❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव

–: प्रकाशक :–

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ॐ

॥ नमः सिद्धं ॥

मोक्षमार्गप्रकाशक

दृष्टान्त वैभव

संकलन एवं सम्पादन :
डॉ. सचिन्द्र जैन 'शास्त्री'
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

—: प्रकाशक :—
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि.
वी.एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056
एवं
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 हाथरस (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण - 2020 : 1000 प्रतियाँ
आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के 300वें जन्म-जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में

न्योछावर राशि :

— मुमुक्षुता की प्रगटता अथवा भावना/संकल्प ही,
इस ग्रन्थ का उचित मूल्य है।

प्राप्तिस्थान :

- **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश)
  Mob. : 9997996346; Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

- **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
  हस्ते - **श्री हितेन ए. सेठ**
  302, कृष्ण-कुंज, प्लॉट नं. - 30, नवयुग सीएचएस लि., वी.एल. मेहता मार्ग
  विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई - 400056
  e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

- **तीर्थधाम चिदायतन,** श्री मुकेश जैन महामन्त्री, जिला मेरठ-250404, उत्तर प्रदेश
  Mob. : 9837079003

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015 (राजस्थान)

- **सत्श्रुत प्रभावक ट्रस्ट,** 'गुरुगौरव', जैन मन्दिर मार्ग, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

- **जैन अध्ययन केन्द्र,** पाटनी भवन, कहान तिराहा, झालरापाटन-326023 (राज०)

- **आजाद ट्रेडिंग कम्पनी,** जैनमन्दिर के नीचे, लाल कुँआ, बुलन्दशहर-203001 (उ.प्र.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर, जयपुर

आभार

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा प्रकाशित एवं प्ररूपित आत्महितकारी मङ्गल देशना, हमें ज्ञानी सन्तों एवं विद्वानों के माध्यम से सतत् उपलब्ध रही है। सभी आत्मज्ञानी महापुरुषों ने निज आत्मस्वरूप के साक्षात्कारपूर्वक, उसके स्वरूप को वाणी अथवा लेखनी के माध्यम से उद्घाटित करने का महा-मङ्गलमय कार्य करके, अज्ञान-अन्धकार से विमूढ़ जीवों पर, अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

जहाँ भावलिङ्गी वीतरागी सन्तों ने प्राकृत / अप्रभ्रंश / संस्कृतभाषा में अनेक आत्महितकारी ग्रन्थों की रचना कर, माँ जिनवाणी के कोष को समृद्ध किया है, वहीं आत्माज्ञानी गृहस्थ विद्वान भी इस कार्य में पीछे नहीं रहे हैं। इन विद्वानों ने उन महा-ग्रन्थों की देशभाषामय टीकाएँ रचकर तथा उनके ही आधार पर, गद्य-पद्यभाषा में सत्-साहित्य की संरचना करके, अल्पबुद्धि जीवों के लिए, मुक्तिमार्ग को टिकाये रखा है।

हम, परमपूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों एवं पूज्य वीतरागी सन्तों के जितने ऋणी हैं, उतने ही ऋणी इन विद्वानों के भी हैं। 'गृहस्थ पण्डित की रचना' कहकर, इन मनीषियों की रचनाओं की उपेक्षा, विवेकसम्मत नहीं कही जा सकती।

विद्वानों की इस परम्परा के पावन प्रवाह में महामनीषी पण्डित टोडरमलजी का नाम अग्रगण्य है। गृहस्थ होते हुए भी, आचार्यकल्प जैसी महामहिम उपाधि से अलंकृत आपका चुम्बकीय व्यक्तित्व, आत्महितैषियों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी चारों अनुयोगों के, प्रतिभासम्पन्न अभ्योधा थे। करणानुयोग के महान ग्रन्थ गोम्मटरसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों पर लिखी गयी आपकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक टीकाएँ, आपके विशाल शास्त्राभ्यास को प्रतिबिम्बित करती है; वहीं आपके द्वारा रचित आत्मानुशासन एवं पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ की देशभाषा वचनिका, आपके अन्तर में व्याप्त परिणामों की कोमलता का सूचक है।

अनेकों शास्त्रों का मर्म अपने आपमें समेटे हुए, पण्डितजी की महान मौलिक कृति, मोक्षमार्गप्रकाशक ने उनकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये। उपलब्ध ग्रन्थ, नौ अधिकारों में विभाजित है, जिसका अन्तिम अधिकार, पण्डितजी की असामायिक देहपरिवर्तन के कारण

पूरा नहीं लिखा जा सका। यह ग्रन्थ अपूर्ण होते हुए भी, अपनी विशिष्ट शैली के लिये सम्पूर्ण दिगम्बर जैनसमाज में विशेष ख्यातिप्राप्त है और सम्भवतः किसी गृहस्थ विद्वान की यह प्रथम रचना होगी, जिसका अनवरत प्रकाशन अनेक संस्थाओं द्वारा लाखों की संख्या में हो चुका है और यह क्रम आज भी अनवरतरूप से जारी है। इसी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेकों जिनमन्दिरों में, सहज उपलब्ध हैं, जो इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ ने अनेक मनीषियों को प्रमोदित किया है। तर्कपूर्ण शैली, सिद्धान्तों की सचोटता, उदाहरण के माध्यम से विषयों का प्रस्तुतिकरण एवं सम्भवित शंकाओं का लेखक द्वारा स्वयं उठाकर किया जानेवाला समाधान, इस ग्रन्थ की ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जिस कारण रचनाकाल से आज तक यह ग्रन्थ जनसाधारण से लेकर, विशिष्ट प्रज्ञापुरुषों के स्वाध्याय का अंग बना हुआ है। इसी ग्रन्थ की शैली से प्रमुदित श्रीमद् राजचन्द्रजी ने उनके द्वारा उल्लखित वाँचनयोग्य सत्श्रुत में इस ग्रन्थ का भी ससम्मान उल्लेख किया है।

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित महापुरुष स्वानुभवविभूषित पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्वेताम्बर स्थानकवासी साधुदशा में विक्रम संवत् 1982 में जब यह ग्रन्थ हस्तगत हुआ, तो वे इस के अध्ययन से इतने प्रमुदित हुए कि पूरे दिन आवश्यक कार्यों से शीघ्र निवृत्त होकर, इस ग्रन्थ के स्वाध्याय, मनन, चिन्तवन में लीन रहने लगे। इस ग्रन्थ का सातवाँ अधिकार उनके चित्त पर इस तरह छा गया कि उन्होंने उनके साथ रहनेवाले जीवणलालजी महाराज से इसकी नकल उतरवा ली, जिसे वे सदैव अपने साथ रखते थे। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सम्प्रदाय परिवर्तन में समयसार परमागम का जितना महत्त्व है, उससे कम महत्त्व मोक्षमार्गप्रकाशक का नहीं है। सम्प्रदाय परिवर्तन के पश्चात् गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में स्थापित प्रमुख संस्थाओं—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ; श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं में लाखों की संख्या में किया जा चुका है। इस ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के मंगलमय प्रवचन साररूप में मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें नाम से तीन भागों में; मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन नाम से चार भागों में और मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन गुजराती, दो भागों में तथा उपलब्ध शब्दशः प्रवचन, मोक्ष का स्वतन्त्रमार्ग, दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

पूज्य गुरुदेवश्री के चित्त में इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के प्रति अत्यधिक अहोभाव था और अनेक प्रवचनों में उन्होंने पण्डित टोडरमलजी और मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का बहुत बहुमानपूर्वक स्मरण किया है और अपनी बात को प्रस्तुत करने के लिये पण्डितजी के कथन को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है। जो गुरुदेवश्री के हृदय में इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के प्रति व्याप्त बहुमान को चित्रित करता है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ के प्रेरणास्रोत आदरणीय पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी जैन बुलन्दशहरवाले इस ग्रन्थ की महिमा करते हुए अनेकों बार यह कहते थे कि पण्डित टोडरमलजी जैसा लिखनेवाला और पूज्य गुरुदेवश्री जैसा बोलनेवाला '**न भूतो, न भविष्यति**'। इसके अतिरिक्त वे अपनी कक्षाओं के माध्यम से इस ग्रन्थ का विशेष स्वाध्याय कराते थे, जिसमें उभयाभासी का प्रकरण विशेष उल्लेखनीय है।

वर्तमान में मुमुक्षु समाज एवं संस्थाओं द्वारा आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की 300वीं जन्म-जयन्ती वर्ष सम्पूर्ण देश-विदेश में मनाया जा रहा है। इस वर्ष को पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक वर्ष के रूप में आयोजित कर, इस ग्रन्थ के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसी अवसर पर, आदरणीय पण्डितजी के प्रति हार्दिक श्रद्धासुमन अर्पित करने एवं उनकी इस अमरकृति का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से, तीर्थधाम मङ्गलायतन अलीगढ़ एवं श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा संयुक्तरूप से अपनी सहभागिता दर्शाते हुए, मोक्षमार्गप्रकाशक के नवीन संस्करण के साथ-साथ '**मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव**' और '**मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी**' समर्पित करते हुए, अत्यन्त आह्लादित है।

प्रस्तुत 'मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव', मूल ग्रन्थ में समागत दृष्टान्त और सिद्धान्तों का समायोजन है।

दृष्टान्त उनकी शैली में मणिकांचनयोग से चमकते हैं। दृष्टान्तों के प्रयोग में पण्डितजी का सूक्ष्म वस्तुनिरीक्षण प्रतिबिम्बित है। जीवन के और शास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने उदाहरण चुने हैं। उनके गद्य में लोकोक्तियों के प्रयोग भी खूब मिलते हैं।

पण्डित टोडरमलजी ने अपनी मौलिक शैली में सरल दृष्टान्त देते हुए, गहन सिद्धान्तों को समझाने का सफल प्रयास किया गया है, जिसका समायोजन इस ग्रन्थ में किया जा रहा है। साथ ही प्रत्येक अधिकार के दृष्टान्तों में से चयनित किसी एक दृष्टान्त का चित्रांकन भी

किया गया है, जिसकी प्रेरणा हमें कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट द्वारा चित्रात्मक शैली में प्रकाशित, 'समयसार दृष्टान्त वैभव' से प्राप्त हुई है।

मूलग्रन्थ से इन सम्पूर्ण दृष्टान्तों का उनके शीर्षकोंसहित सम्पादन डॉ. सचिन्द्र जैन, तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा किया गया है। जिसमें पण्डित सचिन जैन ने भी मनोयोग से इस कार्य में अपना सहयोग प्रदान किया है। प्रस्तुत मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव के चित्रों के चित्रांकन का अद्भुत अकल्पनीय, कार्य दिल्ली पब्लिक स्कूल हाथरस के कला विभाग के अध्यापक श्री दीपांकर धर, श्री राम किंशु एंव श्रीमती अपर्णा जैन द्वारा किया गया है। हम अपने सभी सहयोगियों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सभी जीव, मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव का अध्ययन कर, इन सरल दृष्टान्तों से गहन सिद्धान्तों को समझते हुए, मूलग्रन्थ एवं इस पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के अध्ययन हेतु प्रेरित हों – इसी पवित्र भावना के साथ.......

– हितेन सेठ **– पवन जैन**

—श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
—श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

सम्पादकीय

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी के त्रिशताब्दी जन्मजयन्ती के पावन अवसर पर, उनकी अनुपम कृति '**मोक्षमार्गप्रकाशक**' में समागत सारभूत दृष्टान्तों एवं सिद्धान्तों पर आधारित कृति '**श्री मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्तवैभव**' प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। जिनागम में गहन सिद्धान्तों को सहज हृदयग्राह्य बनाने के पावन उद्देश्य से, सुगम दृष्टान्तों की परम्परा रही है। भगवत् कुन्दकुन्द जैसे महासमर्थ दिगम्बराचार्यों ने भी अपने समयसारादि परमागमों में इस शैली का भरपूर प्रयोग किया है। सुगम दृष्टान्तों के माध्यम से गहन सिद्धान्त भी जनसामान्य के अन्तःकरण में सहज समझ में आ जाता है। पण्डित टोडरमलजी की इस लोकप्रिय कृति में भी ऐसे अनेक दृष्टान्तोंपूर्वक जिनागम के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाया गया है।

इस कृति के सम्पादन का दायित्व मुझे सौंपा गया है, जिसमें मैंने, अपने सहयोगी विद्वानों के सक्रिय सहयोग से निम्न प्रयोग किये हैं—

1. इस ग्रन्थ के नौ अध्याय (उपलब्ध) और आचार्यकल्प द्वारा लिखित, प्रसिद्ध रहस्यपूर्ण चिट्ठी के दृष्टान्तों का भी समावेश किया गया है;
2. प्रत्येक अधिकार में मूलग्रन्थ का मङ्गलाचरण भी लिया गया है;
3. एक प्रश्न उठता है कि आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी को इन दृष्टान्त व सिद्धान्तों को लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी? तो हमने अधिकांश प्रश्नों को स्वयं श्रोता बनकर, प्रश्न बनाकर, उसे 'श्रोता उवाच' के अन्तर्गत दिया है, ताकि ये समझाया जा सके कि इस दृष्टान्त व सिद्धान्त से पण्डितजी क्या समझाना चाहते हैं?
4. अनेक स्थलों पर प्रश्न, मूलग्रन्थ से उठाये हैं। यदि मूलग्रन्थ में प्रश्न नहीं उठाया गया है तो हमने, श्रोता उवाच के रूप में, स्वयं प्रश्न किया है;

5. यथासम्भव दृष्टान्तों को और वहाँ वर्णित सिद्धान्तों को मूलग्रन्थ से लिया गया है लेकिन कहीं-कहीं एक-दो शब्दों का चयन, ग्रन्थ के बाहर से भी, इसे सुगम बनाने के लिए किया गया है;
6. कहीं-कहीं बहुत छोटे दृष्टान्त, जो अंशों में ग्रन्थ में ऊपर-नीचे दिए गए थे, हमने उन दृष्टान्तों को एक में समाहित कर दिया है। (पृष्ठ 13, 34, 41, 46, 49, 52, 55, 58, 78, 88, 109, 110, 111, 113, 117)
7. कहीं-कहीं कोई अति विशिष्ट प्रसंग, दृष्टान्त के बिना ज्ञान में आया, तो ऐसे प्रसंगों को, पाठकों के हित के लिए, उनका भी उल्लेख किया है, ऐसे वाक्यों को अलग दर्शाने के लिए 'बाक्स' बनाकर रखा है। जैसे-पृष्ठ 45।
8. इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं अति संक्षिप्त उदाहरण थे, उनका विशेष प्रयोजन भासित न होने से, उन दृष्टान्तों को छोड़ दिया गया है।
9. प्रत्येक उदाहरण को, समुचित अध्याय में रखा गया है। प्रमाणिकता के लिए दृष्टान्तों के साथ मूलग्रन्थ का पृष्ठ क्रमांक भी दिया गया है;

पाठकों को मूलग्रन्थ के अध्ययन की प्रेरणा जागृत हो, तदर्थ प्रत्येक अधिकार के एक दृष्टान्त और सिद्धान्त को, रेखाचित्र भी लगाकर, प्रस्तुत कृति को रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।

हमने अल्प क्षयोपशम होते हुए भी, स्वयं एवं पाठकों के हित के लिए यह उपक्रम किया है। इसमें यदि कहीं कोई त्रुटि अथवा स्खलन हुआ हो तो, विज्ञजन एवं सुविज्ञपाठक इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करें, जिससे आगामी अंकों में अपेक्षित सुधार किया जा सके।

डॉ. सचिन्द्र जैन 'शास्त्री'

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ॐ

❁ नमः सिद्धं ❁

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का
अभिनन्दन

(दोहा)

श्री चौबीस जिनेश दृग-ज्ञान-चरण में धार।
गणधर कुल के पद-कमल में वन्दन शत बार ॥1 ॥
प्राकृत संस्कृत में रचे आचार्यों ने ग्रन्थ।
जन-जन को दिखला रहे शिवपुर पथ निर्ग्रन्थ ॥2 ॥
अति गम्भीर रहस्य को भाषा देश मँझार।
मर्म ग्रन्थ का खोलते बुधजन का उपकार ॥3 ॥
मौलिक प्रतिभा के धनी बहुश्रुत जिन उर धार।
मोक्षमार्ग परकाश के टोडरमल करतार ॥4 ॥
स्याद्वादमय सन्तुलन दूर करे अज्ञान।
सम्यग्ज्ञान सुचन्द्रिका करे मोह की हान ॥5 ॥

(वीर छन्द)

मोक्षमार्ग के मर्म प्रकाशक टोडरमल का अभिनन्दन।
जिनवाणी के रसिक, उन्हें आचार्य-कल्प कह करें नमन ॥
रूढ़िवाद के प्रबल विरोधी मिथ्यामत पर किया प्रहार।
हे विद्वान शिरोमणि तुमको नमें मुमुक्षु शत-शत बार ॥6 ॥
वीतराग-विज्ञान भाव से परमेष्ठी ही पूज्य अहो।
वीतरागता पोषक वाणी पढ़ने-सुनने योग्य कहो ॥
है अनादि से जीव कर्म से बँधा हुआ पर्यायों में।
स्वयं-स्वयं को भूल रहा तो भटक रहा चहुँगतियों में ॥7 ॥
द्रव्य स्वतन्त्र अनादि-निधन हैं स्वयं परिणमित होते हैं।
भ्रम से जीव दुखी जग में भ्रम मिटने से दुख मिटते हैं ॥

ॐ

दुख के कारण मिटने से ही सिद्ध प्रभू हैं परम सुखी।
तत्त्व-विचार करें यदि हम तो हम भी होंगे परम सुखी ॥8 ॥
इन्द्रिय-ज्ञान जानता तन को अतः एकता तन से की।
सात प्रयोजनभूत तत्त्व की मिथ्या श्रद्धा करे दुखी॥
मिथ्याश्रद्धा के संग में सब ज्ञान-चरित भी मिथ्या हों।
जानबूझ कर मूढ़ रहे यह अरे! मोह-महिमा देखो ॥9 ॥
मिथ्यामत बहु प्रचलित जग में अगृहीत-मिथ्या पोषक।
जिनमत में भी कल्पित रचना तीव्र-कषायी जीवों कृत॥
कुगुरु कुदेवादिक सेवन ही मिथ्याश्रद्धा पुष्ट करे।
देव धर्म गुरु हैं सर्वोत्तम इनसे ही शिव-मार्ग चले ॥10 ॥
जिन-आगम अभ्यास करे पर मिथ्या श्रद्धा नहीं टले।
कोइ एक नय पक्ष रहे या सबको एक समान लखे॥
मोक्षमार्ग दो नहीं किन्तु दो तरह कथन करता आगम।
तत्त्व विचार करे तो सम्यग्दर्शन पथ पर प्रथम कदम ॥11 ॥
वीतरागता के पोषक ही कामधेनु चारों अनुयोग।
उनकी शैली नहिं जाने तो कैसे हो सम्यक् उपयोग॥
शास्त्रों का अभ्यास करे यदि स्याद्वादयुत दृष्टि से।
मोक्षमार्ग का प्रथम चरण है आगमज्ञान सुदृष्टि से ॥12 ॥
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित पर्याय-शुद्ध ही मोक्ष स्वरूप।
अतः भव्य पुरुषार्थ करें तो सहज प्रगट हो सिद्धस्वरूप॥
तत्त्वज्ञान-श्रद्धान सहित रागादि घटाने से शिव-पन्थ।
तत्त्वार्थों का हो यथार्थ श्रद्धान कहें समकित, निर्ग्रन्थ ॥13 ॥

पण्डितगण के भी गुरु विद्वद्जन शिरमौर
अभिनन्दन है आपका आप समान न और ॥14 ॥

— पण्डित अभयकुमार शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य

विषय-सूची

विषय	दृष्टान्त पृष्ठ	मो.मा.प्र. पृष्ठ
पहला अधिकार : **पीठबन्ध प्ररूपण** [1 से 9]		
• मङ्गलाचरण	1	
• दृष्टान्त 1-6	2-9	1-20
दूसरा अधिकार : **संसार अवस्था का स्वरूप** [10-22]		
• दृष्टान्त 7-20	11-22	21-44
तीसरा अधिकार : **संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण** [23-37]		
• दृष्टान्त 21-34	23-37	45-75
चौथा अधिकार : **मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण** [38-83]		
• दृष्टान्त 35-42	39-47	76-94
पाँचवाँ अधिकार : **अन्यमत निरूपण** [48-58]		
• दृष्टान्त 43-52	49-58	95-167
छठा अधिकार : **कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध** [59-63]		
• दृष्टान्त 53-56	59-63	168-192
सातवाँ अधिकार : **जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन** [64-92]		
• दृष्टान्त 57-85	64-92	193-267
आठवाँ अधिकार : **उपदेश का स्वरूप** [93-111]		
• दृष्टान्त 86-104	93-111	268-304
नौवाँ अधिकार : **मोक्षमार्ग का स्वरूप** [112-120]		
• दृष्टान्त 105-112	112-120	305-339
रहस्यपूर्ण चिट्ठी (पण्डित टोडरमलजी) 121-123		
• दृष्टान्त 1-3	121-123	341-349
परमार्थ वचनिका (पण्डित बनारसीदासजी) 124-125		
• दृष्टान्त 1-2	124-125	350-355
उपादान-निमित्त की चिट्ठी (पण्डित बनारसीदासजी) 126-127		
• दृष्टान्त 1-2	126-127	356-359

चित्र-सूची

चित्र	चित्र पृष्ठ	मो.मा.प्र. आधार

पहला अधिकार : **पीठबन्ध प्ररूपण** [20]

● **चित्र-1** 8

दूसरा अधिकार : **संसार अवस्था का स्वरूप** [21]

● **चित्र-2** 10

तीसरा अधिकार : **संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण** [46-47]

● **चित्र-3** 24

चौथा अधिकार : **मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण** [86]

● **चित्र-4** 40

पाँचवाँ अधिकार : **अन्यमत निरूपण** [140]

● **चित्र-5** 54

छठा अधिकार : **कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध** [184]

● **चित्र-6** 62

सातवाँ अधिकार : **जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन** [208, 241]

● **चित्र-7** 72

● **चित्र-8** 84

आठवाँ अधिकार : **उपदेश का स्वरूप** [292]

● **चित्र-9** 106

नौवाँ अधिकार : **मोक्षमार्ग का स्वरूप** [313]

● **चित्र-10** 114

ॐ

❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक

दृष्टान्त वैभव

पहला अधिकार
पीठबन्ध प्ररूपण

॥ ॐ नमः ॥

[मंगलाचरण]

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान॥ १ ॥
करि मंगल करिहौं महा, ग्रन्थकरन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज॥ २ ॥

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

ॐ

श्रोता उवाच— *'कोई मंगल नहीं करता, उसके सुख और कोई मंगल करता है, उसके दुःख; पाप का उदय दिखायी देता है; ऐसा क्यों?'*

मंगल तो सुख ही का कारण है

जिस प्रकार—जिसके पूर्व में बहुत धन का संचय हो, उसके बिना कमाए भी, धन दिखायी देता है और ऋण दिखायी नहीं देता तथा जिसके, पूर्व में ऋण बहुत हो, उसके धन कमानेपर भी, ऋण दिखायी देता है और धन दिखायी नहीं देता, परन्तु विचार करने से, कमाना तो धन ही का कारण है; ऋण का कारण नहीं है।

उसी प्रकार—जिसके, पूर्व में बहुत पुण्य का बन्ध हुआ हो, उसके यहाँ ऐसा मंगल किये बिना भी, सुख दिखायी देता है; पाप का उदय दिखायी नहीं देता और जिसके, पूर्व में बहुत पापबन्ध हुआ हो, उसके यहाँ ऐसा मंगल करनेपर भी, सुख दिखायी नहीं देता; पाप का उदय दिखायी देता है परन्तु विचार करने से, ऐसा **मंगल तो सुख ही का कारण है; पापोदय का कारण नहीं है।** (पृष्ठ ४)

ॐ

श्रोता उवाच— 'इस ग्रन्थपर्यन्त सत्यार्थ पदों की ही रचना होती आयी; असत्यार्थ पद नहीं मिले - ऐसी प्रतीति हमें कैसे हो ?'

असत्यार्थ पदों की परम्परा नहीं चलती है

जैसे—कोई सच्चे मोतियों के गहने में, झूठे मोती मिला दे, परन्तु (उनमें सच्चे मोतियों जैसी) झलक नहीं मिलती; इसलिए परीक्षा करके, पारखी ठगाता भी नहीं है; कोई भोला हो, वही मोती के नाम से, ठगा जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई झूठे मोतियों का निषेध करता है।

उसी प्रकार—कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैनशास्त्र में, असत्यार्थ पद मिलाए, परन्तु जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिककार्य घटाने का प्रयोजन है और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाए हैं, उनमें कषाय का पोषण करने का तथा लौकिककार्य साधने का प्रयोजन है। इस प्रकार प्रयोजन नहीं मिलता; इसलिए परीक्षा करके, ज्ञानी ठगाता भी नहीं; कोई मूर्ख हो, वही जैनशास्त्र के नाम से, ठगा जाता है तथा **उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई [ज्ञानी], असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।** (पृष्ठ 12)

2

ॐ

श्रोता उवाच—'यदि उपदेशदाता आत्मानुभवरहित हो, लेकिन बड़े धर्मग्रन्थों का, संस्कृत-प्राकृतादि का ज्ञाता हो, मन्दकषायी हो, ऐसा वक्ता स्वीकारनेयोग्य है या नहीं?'

उत्सूत्रभाषी वक्ता, त्याजनेयोग्य

जैसे—उत्कृष्ट मणिसंयुक्त होनेपर भी, सर्प है, वह लोक में विघ्न ही का करनेवाला है।

उसी प्रकार—जो अनेक क्षमादि गुण तथा व्याकरणादि विद्या का स्थान है तथापि यदि उत्सूत्रभाषी है तो छोड़नेयोग्य ही है।

बहु गुणविज्जाणिलयो, असुत्तभासी तहावि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु, विग्घयरो विसहरो लोए॥

(उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा 18; मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 15)

जैसे—तू, कण को छोड़कर, तुस (भूसी) ही कूट रहा है।

उसी प्रकार—तू, अर्थ और शब्द में ही सन्तुष्ट है, परमार्थ नहीं जानता; इसलिए मूर्ख ही है।

पंडिय पंडिय पंडिया, कण छोडि वि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि, परमत्थ ण जाणइ मूढो सि॥

(दोहापाहुड़, गाथा-86; मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 16)

ॐ

श्रोता उवाच— *'केवली के बिना इच्छा, दिव्यध्वनि किस प्रकार होती है ?'*

केवली के सहज ही, दिव्यध्वनि होती है

जिस प्रकार—सूर्य को ऐसी इच्छा नहीं है कि 'मैं मार्ग प्रकाशित करूँ', परन्तु सहज ही उसकी किरणें फैलती हैं, उनके द्वारा मार्ग का प्रकाशन होता है।

उसी प्रकार—केवली, वीतराग हैं; इसलिए उनके ऐसी इच्छा नहीं है कि हम, मोक्षमार्ग प्रगट करें, परन्तु सहज ही वैसे ही अघातिकर्मों के उदय से, **उनका शरीररूप पुद्गल, दिव्यध्वनिरूप परिणमित होता है, उसके द्वारा, मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता है।**

(पृष्ठ 18-19)

ॐ

श्रोता उवाच— 'मोक्षमार्ग के प्रकाशक ग्रन्थ पहले तो थे ही, तुम नया ग्रन्थ किसलिए बनाते हो ?'

अल्पज्ञानी भी अपना कार्य कर सकें, इसलिए...

जिस प्रकार—बड़े दीपकों का तो उद्योत, बहुत तेलादि के साधन से रहता है; जिनमें बहुत तेलादि की शक्ति न हो, उनको, छोटा दीपक जलादें तो वे उसका साधन रखकर, उसके उद्योत से, अपना कार्य करें।

उसी प्रकार—बड़े ग्रन्थों का तो प्रकाश, बहुत ज्ञानादि के साधन से रहता है; जिनमें बहुत ज्ञानादि की शक्ति नहीं है, उनको छोटा ग्रन्थ बनादें तो वे उसका साधन रखकर, उसके प्रकाश से, (**अल्पज्ञानी भी**) **अपना कार्य करें; इसलिए यह छोटा सुगम ग्रन्थ बनाते हैं।**

(पृष्ठ 19)

ॐ

पण्डितप्रवर की हितकारी प्रेरणाएँ

चौदह विद्याओं में भी पहले अध्यात्मविद्या प्रधान कही है; इसलिए जो अध्यात्मरस का रसिया वक्ता है, उसे जिनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना। (पृष्ठ 16)

"भली होनहार है, इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है—'मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये मेरे भाव होते हैं, उनका क्या फल लगेगा ? जीव, दुःखी हो रहा है; अतः दुःख दूर होने का क्या उपाय है ?'—इतनी बातों का निर्णय करके, 'मुझको जो कुछ मेरा हित हो, वह करना'—ऐसे विचार से उद्यमवन्त हुआ है।" (पृष्ठ 17)

सम्बोधन!

पुनश्च, इस ग्रन्थ का तो वाँचना—सुनना—विचारना बहुत सुगम है; कोई व्याकरणादि का भी साधन नहीं चाहिए; इसलिए अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो! तुम्हारा कल्याण होगा!!

(पृष्ठ 20)

पहला अधिकार, चित्र 1

जिनवाणी पठन व जिनागम के अभ्यास और ज्ञानी गुरु के वचनों को सुनने की प्रेरणा।

ॐ

श्रोता उवाच— 'जो जीव जिनवाणी का श्रवण और अभ्यास नहीं करते, वो जीव कैसे हैं?'

जिनागम के अभ्यास और धर्मवचनों को सुनने की प्रेरणा

जैसे—बड़े दरिद्री को, अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति होवे और वह अवलोकन न करे तथा जैसे—कोढ़ी को अमृतपान करावें और वह न करे।

उसी प्रकार—संसार पीड़ित जीव को, सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे, तो **उसके 'अभाग्य की महिमा' हमसे तो नहीं हो सकती; उसकी होनहार ही का विचार करनेपर, अपने को समता आती है।**

साहीणे गुरुजोगे, जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता, अह सुहडा भवभयविहुणा॥

(उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गाथा 34)

अर्थ—स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलनेपर भी, जो जीव, धर्मवचनों को नहीं सुनते; वे धीठ हैं और उनका, दुष्ट चित्त है अथवा **जिस संसार भय से, तीर्थंकरादि डरे, उस संसारभय से रहित हैं; वे बड़े सुभट हैं।**

(पृष्ठ 20)

कर्म रोग से मुक्ति — दूसरा अधिकार, चित्र 2

दूसरा अधिकार

संसार–अवस्था का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

मिथ्याभाव अभाव तैं, जो प्रगटै निजभाव।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

श्रोता उवाच— *'दुःख का मूलकारण क्या है?'*

कर्मबन्धन से मुक्ति

जैसे—वैद्य है, वह रोगसहित मनुष्य को प्रथम तो, रोग का निदान बतलाता है कि 'इस प्रकार यह रोग हुआ है' तथा उस रोग के निमित्त से, उसके जो-जो अवस्था होती हैं, उन्हें बतलाता है; उससे उसको निश्चय होता है कि 'मुझे ऐसा ही रोग है', फिर उस रोग को दूर करने का उपाय, अनेक प्रकार से बतलाता है और उस उपाय की रोगी को प्रतीति कराता है—इतना तो वैद्य का बतलाना है तथा यदि वह रोगी, उसका साधन करे तो रोग से मुक्त होकर, अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, सो यह रोगी का कर्तव्य है।

उसी प्रकार—यहाँ कर्मबन्धनयुक्त जीव को, प्रथम 'कर्मबन्धन का निदान' बतलाते हैं कि 'ऐसे यह कर्मबन्धन हुआ है' तथा उस कर्मबन्धन के निमित्त से, इसके जो-जो अवस्था होती हैं, वह बतलाते हैं; उससे जीव को निश्चय होता है कि 'मुझे ऐसा ही कर्मबन्धन है', फिर उस कर्मबन्धन के दूर होने का उपाय, अनेक प्रकार से बतलाते हैं और उस उपाय की इसे प्रतीति कराते हैं—इतना तो शास्त्र का उपदेश है। **यदि यह जीव, उसका साधन करे तो कर्मबन्धन से मुक्त होकर, अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, सो यह जीव का कर्तव्य है।** (पृष्ठ 21)

ॐ

श्रोता उवाच— *'जीव और कर्म का अनादि-सम्बन्ध होने पर भी, वे एकरूप क्यों नहीं हुए ?'*

कर्मबन्धन के समय भी, जीव अबद्ध है

जैसे—सोने-चाँदी का एक स्कन्ध हो, तथापि पीतादि गुणों को धारण किये, सोना भिन्न रहता है और श्वेतादि गुणों को धारण किये, चाँदी भिन्न रहती है; वैसे भिन्न जानना।

उसी प्रकार—इनका (जीव तथा कर्म का) अनादि-सम्बन्ध है, तो भी जीव का कोई प्रदेश, कर्मरूप नहीं होता और कर्म का कोई परमाणु, जीवरूप नहीं होता; **अपने-अपने लक्षण को धारण किये, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।** (पृष्ठ 23)

8

श्रोता उवाच— *'अमूर्तिक व मूर्तिक का बन्धन कैसे सम्भव है ?'*

अमूर्तिक जीव को, कर्मबन्धन सम्भव

जैसे—जो व्यक्त इन्द्रियगम्य नहीं हैं—ऐसे सूक्ष्म पुद्गल तथा जो व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं—ऐसे स्थूल पुद्गल, उनका बन्धान होना मानते हैं।

उसी प्रकार—जो 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य नहीं है'—ऐसा अमूर्तिक आत्मा तथा 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य है'—ऐसा मूर्तिक कर्म, **इनका भी बन्धान होना मानना।** (पृष्ठ 24)

9

ॐ

श्रोता उवाच— *'जड़कर्म के द्वारा, जीव के स्वभाव का घात, कैसे सम्भव है ?'*

जड़कर्मों द्वारा, जीव के स्वभाव का घात

जैसे—किसी पुरुष के सिरपर मोहनधूल पड़ी हो, उससे वह पुरुष, पागल हुआ; वहाँ उस मोहनधूल को ज्ञान भी नहीं था और बलवानपना भी नहीं था परन्तु पागलपना, उस मोहनधूल ही से हुआ देखते हैं। वहाँ मोहनधूल का तो निमित्त है और पुरुष, स्वयं ही पागल हुआ परिणमित होता है। तथा सूर्य के उदय के काल में, चकवा-चकवियों का संयोग होता है; वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से, बलजबरी करके, उन्हें अलग नहीं किये हैं और दिन में किसी ने, करुणाबुद्धि से, लाकर मिलाये नहीं हैं; सूर्योदय का निमित्त पाकर, स्वयं ही मिलते हैं।

उसी प्रकार - यदि कर्म, स्वयं कर्ता होकर, उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे व बाह्य सामग्री को मिलावे, तब तो कर्म को चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए, वह तो है नहीं; **सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है—ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है।**

(पृष्ठ 25)

ॐ

श्रोता उवाच— *'क्या हमारे प्रगट ज्ञान जितना ही, हमारा स्वभाव है ?'*

प्रगट ज्ञान, स्वभाव का अंश है

जैसे—सूर्य का प्रकाश है, वह मेघपटल से जितना व्यक्त नहीं है, उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उस मेघपटल के मन्दपने से, जितना प्रकाश प्रगट है, वह उस सूर्य के स्वभाव का अंश है; मेघपटलजनित नहीं है।

उसी प्रकार—जीव का, ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव है, वह, ज्ञानावरण आदि के निमित्त से जितना व्यक्त नहीं है, उतने का तो उस काल में अभाव है तथा उन कर्मों के क्षयोपशम से, जितने ज्ञान आदि प्रगट हैं, वे उस जीव के स्वभाव के अंश ही हैं; कर्मजनित औपाधिकभाव नहीं हैं—ऐसे स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर, कभी अभाव नहीं होता। इस ही के द्वारा, जीव के जीवत्वपने का निश्चय किया जाता है कि **यह देखनेवाली-जाननेवाली शक्ति को धरती हुई जो वस्तु है, वही 'आत्मा' है।** (पृष्ठ 26)

ॐ

श्रोता उवाच— *'जिनवाणी में, स्थिति व अनुभाग बन्ध को ही बलवान क्यों कहा है ?'*

चार प्रकार के बन्ध में, स्थिति और अनुभाग ही बलवान

जैसे—बहुत भी मदिरा है और उसमें थोड़े कालपर्यन्त, थोड़ी उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा, हीनपने को प्राप्त है तथा यदि थोड़ी भी मदिरा है और उसमें बहुत कालपर्यन्त, बहुत उन्मत्तता उत्पन्न करने की शक्ति है तो वह मदिरा, अधिकपने को प्राप्त है।

उसी प्रकार—बहुत भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें थोड़े कालपर्यन्त, थोड़ा फल देने की शक्ति है तो वे कर्मप्रकृतियाँ, हीनता को प्राप्त हैं तथा थोड़े भी कर्मप्रकृतियों के परमाणु हैं और उनमें बहुत कालपर्यन्त, बहुत फल देने की शक्ति है, तो वे कर्मप्रकृतियाँ, अधिकपने को प्राप्त हैं; योगों द्वारा हुए प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्ध बलवान नहीं हैं।

इसलिए मुख्यरूप से [मिथ्यात्व आदि] कषाय को ही बन्ध का कारण जानना; जिन्हें बन्ध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें।

(पृष्ठ 28)

ॐ

श्रोता उवाच— 'पुद्गलपरमाणु को तो कुछ ज्ञान नहीं है, तो वे अनेक प्रकृतिरूप, कैसे परिणमन करते हैं?'

ज्ञानहीन पुद्गलपरमाणु का अनेक प्रकृतिरूप परिणमन

जैसे—भूख होनेपर, मुखद्वार से ग्रहण किया हुआ भोजनरूप पुद्गलपिण्ड, माँस-शुक्र-शोणित आदि धातुरूप परिणमित होता है तथा...। उनमें अनेक परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल रहता है, अनेक का अल्प काल रहता है...। ऐसा होने में, किसी भोजनरूप पुद्गलपिण्ड को ज्ञान तो नहीं है कि 'मैं इस प्रकार परिणमन करूँ' तथा अन्य कोई परिणमन करानेवाला भी नहीं है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिकभाव बन रहा है, उससे वैसा ही परिणमन पाया जाता है।

उसी प्रकार—कषाय होनेपर, योगद्वार से ग्रहण किया हुआ कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्ड, ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमित होता है...। उनमें अनेक परमाणुओं का सम्बन्ध बहुत काल रहता है, अनेक का अल्प काल रहता है,...। वहाँ ऐसा होने में, किसी कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्ड को ज्ञान तो है नहीं कि 'मैं इस प्रकार परिणमन करूँ' तथा और कोई परिणमन करानेवाला भी नहीं है। **ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिकभाव बन रहा है, उससे वैसा ही परिणमन पाया जाता है।**

(पृष्ठ 28–29)

ॐ

श्रोता उवाच— *'जड़ पुद्गलपरमाणु को, अनेक कर्मरूप परिणमन की शक्ति का, कारण क्या है?'*

जीवभाव का निमित्त ही कारण

जैसे—मन्त्र निमित्त से जलादि में, रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में, सर्पादि रोकने की शक्ति होती है।

उसी प्रकार—जीवभाव के निमित्त से, पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है। (पृष्ठ 29)

14

श्रोता उवाच— *अनेक इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला ज्ञान, एक साथ होता है या क्रमशः?*

इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति

जैसे—कौए के नेत्र में, दो गोलक हैं; पुतली एक है, वह फिरती शीघ्र है; उससे दोनों गोलकों का साधन करती है।

उसी प्रकार—इस जीव के द्वार तो अनेक हैं और उपयोग एक है, वह फिरता शीघ्र है, उससे सर्व द्वारों का साधन रहता है। (पृष्ठ 36)

15

ॐ

श्रोता उवाच— *'क्या चश्मे से ज्ञान सम्भव है ?'*

इन्द्रिय और ज्ञान में, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

जिस प्रकार—जिसकी दृष्टि, मन्द हो, वह अपने नेत्र द्वारा ही देखता है परन्तु चश्मा लगानेपर ही देखता है; बिना चश्मे के नहीं देख सकता। तथा जिस प्रकार नेत्र तो जैसे के तैसे हैं परन्तु चश्मे में कुछ दोष हुआ हो तो नहीं देख सकते अथवा थोड़ा दिखता है या और का और दिखता है।

उसी प्रकार—(जिस) आत्मा का ज्ञान, मन्द है, वह अपने ज्ञान से ही जानता है परन्तु द्रव्येन्द्रिय तथा मन का सम्बन्ध होनेपर ही जानता है; उनके बिना, नहीं जान सकता तथा अपना क्षयोपशम तो जैसे का तैसा है परन्तु यदि द्रव्येन्द्रिय तथा मन के परमाणु, अन्यथा परिणमित हुए हों तो जान नहीं सकता अथवा थोड़ा जानता है अथवा और का और जानता है क्योंकि **द्रव्येन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओं के परिणमन और मतिज्ञान को, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।**

(पृष्ठ 33)

ॐ

श्रोता उवाच— *'जानना-देखना, अपनी शक्ति के अनुसार होता है अथवा क्षयोपशम के अनुसार ?'*

समर्थ स्वभाव और पराधीन क्षयोपशम

जैसे—किसी पुरुष की, बहुत ग्रामों में गमन करने की शक्ति है, उसे किसी ने रोका और यह कहा—'पाँच ग्रामों में जाओ, परन्तु एक दिन में एक ग्राम जाओ।' वहाँ उस पुरुष के बहुत ग्रामों में जाने की शक्ति तो द्रव्य -अपेक्षा पायी जाती है; अन्य काल में सामर्थ्य हो, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है क्योंकि वर्तमान में, पाँच ग्रामों से अधिक ग्रामों में गमन नहीं कर सकता। इस प्रकार पाँच ग्रामों में, जाने की पर्याय-अपेक्षा, वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है क्योंकि उनमें गमन कर सकता है तथा व्यक्तता, एक दिन में, एक ग्राम को गमन करने ही की पायी जाती है।

उसी प्रकार—इस जीव की सर्व को देखने-जानने की शक्ति है लेकिन उसे कर्म ने रोका और इतना क्षयोपशम हुआ कि स्पर्शादि विषयों को देखो या जानो, परन्तु एक काल में, एक ही को देखो या जानो। वहाँ इस जीव को, सर्व को देखने-जानने की शक्ति तो द्रव्य-अपेक्षा पायी जाती है; अन्य काल में सामर्थ्य होगी, परन्तु वर्तमान सामर्थ्यरूप नहीं है क्योंकि अपनेयोग्य विषयों से अधिक विषयों को देख-जान नहीं सकता, तथा अपनेयोग्य विषयों को देखने-जानने की पर्याय-अपेक्षा, वर्तमान सामर्थ्यरूप शक्ति है क्योंकि उन्हें देख-जान सकता है परन्तु **व्यक्तता, एक काल में, एक ही को देखने या जानने की पायी जाती है।** (पृष्ठ 36-37)

ॐ

श्रोता उवाच— 'देखने में आता है कि, बाह्य निमित्तों की प्रतिकूलता होनेपर, देखना-जानना नहीं होता। अथवा कम या ज्यादा होता है, अतः इसमें बाह्य निमित्त ही कारण हुए; कर्म का निमित्तपना नहीं रहा ?'

क्षयोपशमरूप जानना भी, कर्मोदय के आधीन

जैसे—रोकनेवाले ने कहा कि पाँच ग्रामों में से एक ग्राम को, एक दिन में जाओ, परन्तु इन किंकरों (सेवकों) को साथ लेकर जाओ; वहाँ वे किंकर, अन्यथा परिणमित हों तो जाना न हो या अन्यथा जाना हो।

उसी प्रकार—कर्म का ऐसा ही क्षयोपशम हुआ है कि इतने विषयों में से एक विषय को, एक काल में देखो या जानो, परन्तु इतने बाह्य द्रव्यों का निमित्त होनेपर, देखो-जानो। वहाँ वे बाह्य द्रव्य, अन्यथा परिणमित हों तो देखना-जानना न हो या अल्प हो या अन्यथा हो—**ऐसा यह कर्म के क्षयोपशम ही का विशेष है; इसलिए कर्म ही का निमित्त जानना।**

(पृष्ठ 37)

ॐ

श्रोता उवाच—*'क्या जीव के चलने आदि की क्रिया का नियामक, एकमात्र पुद्‌गल ही है ?'*

शरीर की क्रिया, पुद्‌गलाधीन या जीवाधीन

जैसे—दो पुरुषों को, एक दण्डी बेड़ी है। वहाँ एक पुरुष, गमनादि करना चाहे और दूसरा भी गमनादि करे, तो गमनादि हो सकते हैं; दोनों में से एक बैठा रहे तो गमनादि नहीं हो सकते अथवा दोनों में एक बलवान हो, तो दूसरे को भी घसीट ले जाए।

उसी प्रकार—आत्मा के और शरीरादिरूप पुद्‌गल के, एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धान है; वहाँ आत्मा, हलन-चलनादि करना चाहे और पुद्‌गल, उस शक्ति से रहित हुआ, हलन-चलन न करे अथवा पुद्‌गल में तो शक्ति पायी जाती है परन्तु आत्मा की इच्छा न हो, तो हलन-चलनादि नहीं हो सकते। अथवा इनमें पुद्‌गल, बलवान होकर हलन-चलन करे तो उसके साथ, **बिना इच्छा के भी आत्मा, हलन-चलन करता है।** (पृष्ठ 44)

ॐ

श्रोता उवाच— *'वेदनीय कर्मोदयजन्य अवस्थारूप एक ही कारण, किसी को सुख का - किसी को दु:ख का कारण, कैसे होता है ?'*

सुख-दु:ख होना, मोह कर्माधीन

जैसे—किसी को सातावेदनीय का उदय होनेपर, मिला हुआ जैसा वस्त्र, सुख का कारण होता है; वैसा ही वस्त्र, किसी को असातावेदनीय का उदय होनेपर मिला, तो वह दु:ख का कारण होता है।

उसी प्रकार—इसलिए बाह्य वस्तु, सुख-दु:ख का निमित्तमात्र होती है। **सुख-दु:ख होता है, वह मोह के निमित्त से होता है।**

(पृष्ठ 42)

20

सम्बोधन!

अत: हे भव्य! अपने अन्तरंग में विचारकर देख — 'ऐसे ही है या नहीं'; वहाँ विचार करनेपर ऐसा ही प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा है तो तू यह मान—'मेरे अनादि से संसाररोग पाया जाता है, उसके नाश का मुझे उपाय करना'—इस विचार से तेरा कल्याण होगा!

(पृष्ठ 44)

तीसरा अधिकार

संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

सो निजभाव सदा सुखद, अपनौं करौ प्रकाश।
जो बहु विधि भव दुःखनि कौ, करि है सत्ता नाश॥

श्रोता उवाच— *'हम दुःखी हैं—यह सत्य है; हम निरन्तर दुःख दूर करने का उपाय भी करते हैं, फिर भी हमारा दुःख दूर क्यों नहीं होता ?'*

दुःखों से मुक्त होने का, सच्चा उपाय कर!

जैसे—रोगी, रोग से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता; सच्चा उपाय नहीं जानता और दुःख भी सहा नहीं जाता, तब जो उसे भासित हो, वही उपाय करता है; इसलिए दुःख दूर नहीं होता, तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ, उन दुःखों को सहता है; उसे वैद्य, दुःख का मूलकारण बतलायें, दुःख का स्वरूप बतलायें, उन उपायों को झूठा दिखलायें, तब सच्चे उपाय करने की रुचि होती है।

उसी प्रकार—संसारी, संसार से दुःखी हो रहा है परन्तु उसका मूलकारण नहीं जानता; सच्चे उपाय नहीं जानता और दुःख भी सहा नहीं जाता, तब अपने को भासित हो, वही उपाय करता है; इसलिए दुःख दूर नहीं होता, तब तड़फ-तड़फकर परवश हुआ, उन दुःखों को सहता है; उसे यहाँ, दुःख का मूलकारण बतलाते हैं, दुःख का स्वरूप बतलाते हैं और उन उपायों को झूठे दिखलाते हैं, **तब सच्चे उपाय करने की रुचि होती है।** (पृष्ठ 45)

मिथ्यादृष्टि ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का ही अनुभवन करता है।   तीसरा अधिकार, चित्र ३

ॐ

श्रोता उवाच— *'क्या विषयों में सुख नहीं है ?'*

मिथ्यादृष्टि को, ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का ही अनुभवन होता है

जैसे—कुत्ता, हड्डी चबाता है, उससे, अपना खून निकलता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि—'यह हड्डियों का स्वाद है'।

उसी प्रकार—यह जीव, विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है—'यह विषय का स्वाद है' लेकिन विषय में तो स्वाद है नहीं। आप ही ने इच्छा की थी, उसे आप ही ने जानकर, आप ही ने आनन्द मान लिया, परन्तु **'मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा निःकेवल ज्ञान का तो अनुभवन है नहीं।** जबकि 'मैंने नृत्य देखा, राग (संगीत) सुना, फूल सूँघा, [स्वाद लिया, स्पर्श किया], शास्त्र जाना, मुझे यह जानना'—**इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभवन होता है, उससे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है।**

(पृष्ठ 46-47)

ॐ

श्रोता उवाच— *'हमारे दुःख का मूल कारण क्या है ?'*

इन्द्रियपीड़ा का एकमात्र कारण, मोह!

जैसे—हाथी को, कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की; मच्छ को, बंसी में लगे हुए माँस का स्वाद लेने की; भ्रमर को कमल -सुगन्ध सूँघने की; पतंगे को, दीपक का वर्ण देखने की और हरिण को, राग सुनने की, इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो, तथापि मरण को नहीं गिनते और विषयों का ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार—वहाँ यद्यपि विषयसेवन करनेपर, मरण होता था तथापि इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ित सर्व जीव, निर्विचार होकर, जैसे—कोई दुःखी, पर्वत से गिर पड़े, वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं।

....इन जीवों को, क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियज्ञान है, वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से इच्छासहित होकर, दुःख का कारण होता है।

(पृष्ठ 47)

ॐ

श्रोता उवाच— *'दुःख का मूलकारण, मिथ्यादर्शनादि हैं या इच्छा ?'*

मिथ्यात्व के कारण दुःखी

जैसे—खाजरोग से पीड़ित हुआ पुरुष, आसक्त होकर खुजाता है; पीड़ा न हो तो किसलिए खुजाए तथा इन्द्रियरोग से पीड़ित हुए इन्द्रादि, आसक्त होकर विषयसेवन करते हैं; पीड़ा न हो तो किसलिए विषयसेवन करें ?

इसी प्रकार—ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियादि जनित ज्ञान है, वह, **मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से, इच्छासहित होकर, दुःख का कारण होता है।** (पृष्ठ 47)

सुखी होने का मन्त्र

'अनादिनिधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न, अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से, परिणमित नहीं होती।' (पृष्ठ 52)

ॐ

श्रोता उवाच— 'परद्रव्यों (स्त्री-पुत्रादि) को तो अपना न मानें, लेकिन शरीर तो अपना ही है, फिर यह दुःख का कारण कैसे ?'

भेदविज्ञान का अभाव ही दुःख का मूलकारण है

जैसे—पागल को किसी ने वस्त्र पहिना दिया; वह पागल, उस वस्त्र को अपना अंग जानकर, अपने को और वस्त्र को एक मानता है; [जबकि] वह वस्त्र, पहिनानेवाले के आधीन है; अतः वह कभी उसे फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है, इत्यादि चरित्र करता है; [लेकिन] वह पागल, उसे अपने आधीन मानता है; जब उसकी (वस्त्र की) पराधीनक्रिया होती है तो उससे वह महा खेद-खिन्न होता है।

उसी प्रकार—इस जीव को कर्मोदय ने शरीर [का] सम्बन्ध कराया; यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एक मानता है। [जबकि] वह शरीर, कर्म के आधीन है; वह कभी कृश होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है, इत्यादि चरित्र होते हैं; यह जीव, उसे अपने आधीन मानता है; जब **उसकी पराधीनक्रिया होती है तो उससे महा खेद-खिन्न होता है।**

(पृष्ठ 50-51)

ॐ

श्रोता उवाच— *'संयोग आदि तो हमारे पुण्योदय से आते हैं, फिर दुःख के कारण कैसे हैं?'*

संयोगों में एकत्व के भ्रम से, दुःख

जैसे—जहाँ वह पागल ठहरा था, वहाँ मनुष्य-घोड़ा-धनादि कहीं से आकर उतरे, वह पागल, उन्हें अपना जानता है; [जबकि] वे तो उन ही के आधीन हैं – कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; वह पागल, उन्हें अपने आधीन मानता है; जब उनकी पराधीनक्रिया होती है, तब खेद-खिन्न होता है।

उसी प्रकार—यह जीव, जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादि कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें, अपना जानता है। वे तो उन ही के आधीन हैं—कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव, उन्हें अपने आधीन मानता है; जब **उनकी पराधीनक्रिया होती है, तब खेद-खिन्न होता है।** (पृष्ठ 51)

ॐ

श्रोता उवाच— *'यदि ऐसा है, तो दुःख दूर करने का सच्चा उपाय क्या है ?'*

सम्यक्ज्ञान होना ही, सुखी होने का सच्चा उपाय

जिस प्रकार— कोई मोहित होकर, मुर्दे को जीवित माने या उसे जिलाना चाहे तो आप ही दुःखी होता है; अतः उसे मुर्दा मानना और 'यह जिलाने से जिएगा नहीं' - ऐसा मानना, वही उस दुःख के दूर होने का उपाय है।

उसी प्रकार—मिथ्यादृष्टि होकर, पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है; अतः उन्हें यथार्थ मानना और 'ये परिणमित कराने से, अन्यथा परिणमित नहीं होंगे' – ऐसा मानना, वही उस दुःख के दूर होने का उपाय है।

भ्रमजनित दुःख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है; अतः भ्रम दूर होने से, सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।

(पृष्ठ 52)

ॐ

श्रोता उवाच— 'जीव, इच्छा बिना तो एक समय भी नहीं रहता। इन इच्छाओं की सीमा क्या है?'

विषयों की इच्छा, वृथा ही है

जैसे—कोई क्रोध से किसी का बुरा सोचता था और उसका बुरा हो चुका, तब अन्य पर क्रोध करके, उसका बुरा चाहने लगा अथवा थोड़ी शक्ति थी, तब छोटों का बुरा चाहता था; बहुत शक्ति हुई, तब बड़ों का बुरा चाहने लगा।

उसी प्रकार—मान-माया-लोभादि द्वारा जो कार्य सोचता था, वह सिद्ध हो चुका, तब अन्य में मानादि उत्पन्न करके, उसकी सिद्धि करना चाहता है। थोड़ी शक्ति थी, तब छोटे कार्य की सिद्धि करना चाहता था; बहुत शक्ति हुई, तब बड़े कार्य की सिद्धि करने की अभिलाषा हुई। कषायों में कार्य का प्रमाण हो तो उस कार्य की सिद्धि होनेपर, सुखी हो जाए, परन्तु **प्रमाण (सीमा; मर्यादा) है नहीं; इच्छा बढ़ती ही जाती है। इसलिए तुम्हें जो विषयों की इच्छा है, वह वृथा ही है।** (पृष्ठ 56)

ॐ

श्रोता उवाच— *'दुःख का मूलकारण क्या है और उसे दूर करने का सच्चा उपाय क्या है ?'*

दुःख का मूलकारण, मिथ्यादर्शन

जैसे—कुत्ते को, पुरुष द्वारा मारी हुई लाठी लगी; वहाँ वह कुत्ता, लाठी से वृथा ही द्वेष करता है।

उसी प्रकार—जीव को अन्तराय से निमित्तभूत किये गये बाह्य चेतन-अचेतन द्रव्यों द्वारा विघ्न हुए, यह जीव, उन बाह्य द्रव्यों से वृथा द्वेष करता है क्योंकि अन्य द्रव्य, इसे विघ्न करना चाहें और इसके न हो तथा अन्य द्रव्य, विघ्न करना न चाहें और इसके हो जाए; इसलिए जाना जाता है कि अन्य द्रव्य का कुछ वश नहीं है। जिनका वश नहीं है, उनसे किसलिए लड़े ? इसलिए यह उपाय, झूठा है।

मिथ्यादर्शनादि से, इच्छा द्वारा जो (मिथ्या) उत्साह उत्पन्न होता था, वह सम्यग्दर्शनादि से दूर होता है और इन सम्यग्दर्शनादि द्वारा ही अन्तराय का अनुभाग घटे, तब इच्छा तो मिट जाए और शक्ति बढ़ जाए, तब वह दुःख दूर होकर, निराकुल सुख उत्पन्न होता है; इसलिए सम्यग्दर्शनादि ही सच्चा उपाय है।

(पृष्ठ 57)

ॐ

श्रोता उवाच— *'हम विषयसेवन आदि से, आंशिक सुखी तो हो ही सकते हैं ?'*

किसी काल में दु:ख की कुछ कमी, 'परमार्थ से सुख नहीं है'

जैसे—कोई अनेक रोगों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसको किसी उपचार से, किसी एक रोग की, कुछ काल के लिए, कुछ उपशान्तता हुई, तब वह पूर्व अवस्था की अपेक्षा, अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं।

उसी प्रकार—यह जीव, अनेक दु:खों से बहुत पीड़ित हो रहा था, उसके किसी प्रकार से, किसी एक दु:ख की, कुछ काल के लिए, कुछ उपशान्तता हुई, तब वह **पूर्व अवस्था की अपेक्षा, अपने को सुखी कहता है; परमार्थ से सुख है नहीं।** (पृष्ठ 58)

ॐ

श्रोता उवाच—'धनादि बाह्य सामग्री से प्रत्यक्ष सुख देखा जाता है, फिर भी आप उसे, स्वीकार क्यों नहीं करते ?'

सुख-दुःख, बाह्य सामग्री से नहीं; 'साता-असाता जन्य है'

यदि—लाख धन के धनी को, हजार धन का व्यय हुआ, तब वह तो दुःखी होता है और यदि शत (एक सौ) धन के धनी को, हजार धन का लाभ हुआ, तब वह सुख मानता है; [जबकि] बाह्य सामग्री तो उसके पास, इससे निन्यानवें गुनी है। अथवा लाख धन के धनी को, अधिक धन की इच्छा है तो वह दुःखी है और शत धन के धनी को, सन्तोष है तो वह सुखी है।

तथा किसी को मोटे वस्त्र का मिलना, दुःखकारी होता है; किसी को सुखकारी होता है।

तथा शरीर में क्षुधा आदि पीड़ा व बाह्य 'इष्ट का वियोग —अनिष्ट का संयोग' होनेपर, किसी को बहुत दुःख होता है, किसी को थोड़ा होता है, किसी को नहीं होता।

उसी प्रकार—बाह्य सामग्री से सुख-दुःख मानते हैं, वही भ्रम है। सुख-दुःख तो साता-असाता का उदय होनेपर, **मोह के निमित्त से होता है—ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है।** (पृष्ठ 60)

ॐ

श्रोता उवाच— 'एकेन्द्रियादि जीवों को प्रत्यक्ष में, कोई दुःख दिखाई नहीं देता तो क्या वे सुखी हैं?'

एकेन्द्रिय को भी, सुख-दुःख है

जैसे—सन्निपात के रोगी का ज्ञान, कम हो जाए और बाह्यशक्ति की हीनता से, अपना दुःख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महादुःखी ही है। तथा मनुष्य के शरीर में (शीत-उष्ण, तृषा-क्षुधा, छेदन -भेदन आदि से) ऐसी अवस्था होनेपर, दुःख होता है।

उसी प्रकार—उनके (एकेन्द्रिय के भी) होता है क्योंकि इनका जानपना, मात्र स्पर्शनइन्द्रिय से होता है और इनके स्पर्शनइन्द्रिय ही है, उसके द्वारा उन विषयों को जानकर, मोह के वश से, महा व्याकुल होते हैं तथा एकेन्द्रिय का ज्ञान तो थोड़ा है और बाह्यशक्ति की हीनता के कारण, (वे) अपना दुःख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महादुःखी है। इसलिए अज्ञानी लोग, उनके दुःख को नहीं जानते। **कदाचित्-किंचित् साता का उदय होता है परन्तु वह बलवान नहीं होता।**

(पृष्ठ 64)

ॐ

श्रोता उवाच— *'यह जीव, एकेन्द्रियपर्याय में रहने का कितना काल है ?'*

एकेन्द्रिय जीव, काल अपेक्षा भी दु:खी

जैसे—पाषाण आधार (पृथ्वी) पर तो बहुत काल रहता है; निराधार आकाश में तो कदाचित्-किंचित्मात्र काल रहता है।

उसी प्रकार—यह जीव, एकेन्द्रियपर्याय में तो बहुत काल रहता है; अन्य पर्यायों में तो कदाचित्-किंचित्मात्र काल ही रहता है; **इसलिए यह जीव, संसार में महादु:खी है।** (पृष्ठ 64)

33

सम्बोधन!

हे भव्य! हे भाई!! तुझे संसार के दु:ख दिखाए, वे तुझ पर बीते हैं या नहीं, वह विचार! और तू जो उपाय करता है, उन्हें झूठा दिखाया, वे ऐसे हैं या नहीं, वह विचार !! तथा सिद्धपद प्राप्त होनेपर, सुख होता है या नहीं, उसका विचार कर !!! यदि तुझे जैसा कहा है, वैसी ही प्रतीति आती हो, तो तू संसार से छूटकर सिद्धपद प्राप्त करने का हम जो उपाय कहते हैं, वह कर! विलम्ब मत कर!! यह उपाय करने से, तेरा कल्याण होगा!!! (पृष्ठ 75)

ॐ

श्रोता उवाच—'*यह दुर्लभ मनुष्यपर्याय प्राप्त हुई है, इसमें प्रथम तो इन्द्रियसुख भोगना चाहिए और वृद्धावस्था में, धर्मसाधन करना चाहिए - ऐसा हम मानते हैं।*'

आत्महित साधना; पर्याय वृथा नहीं खोना

जैसे—काने गन्ने की जड़ व उसका ऊपरी फीका भाग तो, चूसनेयोग्य ही नहीं है और बीच की पोरें, कानी होने से, वे भी नहीं चूसी जातीं; कोई स्वाद का लोभी, उन्हें बिगाड़े तो बिगाड़ो और यदि उन्हें बो दें तो, उनसे बहुत से गन्ने हों और उनका स्वाद बहुत मीठा आए।

उसी प्रकार—मनुष्यपर्याय का बालक-वृद्धपना तो सुखयोग्य नहीं है और बीच की अवस्था, रोग-क्लेशादि से युक्त है; वहाँ सुख हो नहीं सकता; कोई विषयसुख का लोभी, उसे बिगाड़े तो बिगाड़ो, परन्तु यदि उसे धर्मसाधन में लगायें तो बहुत उच्चपद को पाए; वहाँ बहुत निराकुल सुख पाया जाता है।

इसलिए यहाँ अपना हित साधना; सुख होने के भ्रम से, वृथा नहीं खोना।

(पृष्ठ 68)

चौथा अधिकार

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनि की सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव॥

संसाररोग में, मिथ्यात्व कुपथ्य है

जैसे—वैद्य है, वह रोग के कारणों का विशेष कहता है तो रोगी, कुपथ्य सेवन नहीं करता, तब वह रोगरहित होता है।

उसी प्रकार—यहाँ संसार के कारणों का विशेष निरूपण करते हैं, जिससे संसारी, मिथ्यात्वादि का सेवन नहीं करे, तब संसाररहित हो; इसलिए मिथ्यादर्शनादि का विशेष निरूपण करते हैं।

(पृष्ठ 76)

ॐ

श्रोता उवाच— *'क्या प्रयोजनभूत तत्त्वों का श्रद्धान आवश्यक है?'*

तत्त्वों का सत्य श्रद्धान ही, सम्यग्दर्शन

जैसे–[कोई] पुरुष है, वह जिनसे प्रयोजन नहीं है, उन्हें 'अन्यथा जाने या यथार्थ जाने' तथा 'जैसा जाने, वैसा ही माने' तो भी उससे उसका कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; उससे वह 'पागल' या 'चतुर' नाम नहीं पाता, लेकिन जिनसे प्रयोजन पाया जाता है, उन्हें यदि अन्यथा जाने और वैसा ही माने तो बिगाड़ होता है; इसलिए उसे 'पागल' कहते हैं तथा उनको यदि 'यथार्थ जाने और वैसा ही माने' तो सुधार होता है; इसलिए उसे 'चतुर' कहते हैं।

उसी प्रकार–'जीव' है, वह जिनसे प्रयोजन नहीं है, उन्हें 'अन्यथा जाने या यथार्थ जाने' तथा 'जैसा जाने, वैसा श्रद्धान करे' तो भी इसका कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; उससे वह 'मिथ्यादृष्टि' या 'सम्यग्दृष्टि' नाम नहीं पाता, लेकिन जिनसे प्रयोजन पाया जाता है, उन्हें यदि 'अन्यथा जाने और वैसा ही श्रद्धान करे' तो बिगाड़ होता है; इसलिए उसे 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं तथा यदि **उन्हें 'यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे' तो सुधार होता है; इसलिए उसे 'सम्यग्दृष्टि' कहते हैं।**

(पृष्ठ 77)

सत्य ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान ही उपादेय

चौथा अधिकार, चित्र 4

ॐ

श्रोता उवाच—'मिथ्यादृष्टि के अयथार्थ जानने को मिथ्याज्ञान कहो, सो तो ठीक है लेकिन जिस काल में वो वस्तु को सत्य जानता है, उस काल में तो उसके ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान कहो ?'

सत्यज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान ही उपादेय

जैसे—मतवाला, माता को पत्नी मानता है; पत्नी को माता मानता है।

उसी प्रकार—मिथ्यादृष्टि जीव को अन्यथा जानना होता है; उसको निश्चयरूप निर्धारपूर्वक श्रद्धानसहित जानना नहीं होता।

तथा जैसे—किसी काल में (वही) मतवाला, माता को माता और पत्नी को पत्नी भी जानता है; इसलिए उसको यथार्थज्ञान नहीं कहा जाता।

उसी प्रकार—मिथ्यादृष्टि जीव, किसी काल में, किसी पदार्थ को सत्य भी जानता है, तो भी यथार्थज्ञान नहीं कहा जाता। अथवा सत्य भी जानता है परन्तु उनसे अपना प्रयोजन अयथार्थ ही साधता है; इसलिए उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते हैं।

तथा जैसे—विष के संयोग से, भोजन को भी विषरूप कहते हैं।

इसी प्रकार—मिथ्यादृष्टि के (समस्त) ज्ञान को, मिथ्याज्ञान (ही) कहते हैं।

(पृष्ठ 86)

ॐ

श्रोता उवाच—'आप, सम्यग्दृष्टि के समस्त ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के समस्त ज्ञान को, मिथ्याज्ञान क्यों कहते हैं ?'

मिथ्यादृष्टि का समस्त ज्ञान, मिथ्या है

जिस प्रकार—मिथ्यादृष्टि, रस्सी को रस्सी जाने तो सम्यग्ज्ञान नाम नहीं होता और सम्यग्दृष्टि, रस्सी को साँप जाने तो मिथ्याज्ञान नाम नहीं होता।

उसी प्रकार—अप्रयोजनभूत पदार्थों को यथार्थ जानो या अयथार्थ जानो, उसकी अपेक्षा, मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान नाम नहीं है।

यहाँ प्रश्न—प्रत्यक्ष सच्चे-झूठे ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान कैसे न कहें ?

उसका समाधान—जहाँ जानने ही को, सच्चा–झूठा निर्धार करने का प्रयोजन हो, वहाँ तो कोई पदार्थ है, उसको सच्चा–झूठा जानने की अपेक्षा ही सम्यग्ज्ञान–मिथ्याज्ञान नाम होता है।

लेकिन यहाँ संसार–मोक्ष के कारणभूत सच्चा–झूठा जानने का निर्धार करना है; वहाँ रस्सी–सर्पादि का यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान, संसार–मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिए उनकी अपेक्षा, यहाँ सम्यग्ज्ञान –मिथ्याज्ञान नहीं कहा है।

इसी अभिप्राय से सिद्धान्त में, मिथ्यादृष्टि के तो सर्व जानने को, मिथ्याज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टि के सर्व जानने को, सम्यग्ज्ञान ही कहा है।

(पृष्ठ 85)

ॐ

श्रोता उवाच— *'ज्ञान होनेपर, श्रद्धान होता है; इसलिए मिथ्यादर्शन का कारण, मिथ्याज्ञान को कहना चाहिए ?'*

सम्यग्दर्शन से ही, ज्ञान, सम्यक् होता है

जैसे—मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं, [वहाँ] वही जानना, मिथ्यादृष्टि को मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि को, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

उसी प्रकार—मिथ्या और सम्यक्—ऐसी संज्ञा, ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। अत: **सर्व मिथ्याज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन, कारण जानना।** (पृष्ठ 87)

ॐ

श्रोता उवाच— *'पुत्रादि हमारी इच्छानुसार परिणमित होते देखे जाते हैं; अतः प्रत्येक द्रव्य का, प्रत्येक परिणमन, स्वतन्त्र है-ऐसा सत्य प्रतीत नहीं होता।'*

परिणमन का कारण, द्रव्य स्वयं है

जैसे—गाड़ी चलती है और बालक उसे धक्का देकर, ऐसा माने कि 'मैं इसे चला रहा हूँ' तो वह असत्य मानता है; यदि उसके चलाने से चलती हो, तो जब वह नहीं चलती, तब क्यों नहीं चलाता ?

उसी प्रकार—पदार्थ परिणमित होते हैं और यह जीव, उनका अनुसरण करके, ऐसा मानता है कि 'मैं इनको ऐसे परिणमाता हूँ' परन्तु यह असत्य मानता है; यदि उसके परिणमाने से परिणमित होते हैं तो वे जब वैसे परिणमित नहीं होते, तब क्यों नहीं परिणमाता ?

(पृष्ठ 88-89)

ॐ

श्रोता उवाच—द्वेष तो सर्वथा त्यागने योग्य है ही, लेकिन शुभभाव (राग), कुछ तो कार्यकारी है ?'

कषायभाव, कुछ भी कार्यकारी नहीं

जैसे—किसी विवाहादि कार्यों में जिसका कुछ भी कहा नहीं होता और यदि वह आप कर्ता होकर, कषाय करे तो आप ही दुःखी होता है; तथा जैसे—जल का बिलोना, कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

उसी प्रकार—कषायभाव करना, कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

(पृष्ठ 89)

(40)

मिथ्यादर्शन से, पर्याय में ही अहंबुद्धि

इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उससे, आप [स्वयं] अमूर्तिक है, वह तो भासित नहीं होता, परन्तु शरीर, मूर्तिक है; वही भासित होता है और आत्मा, किसी को आपरूप जानकर, अहंबुद्धि धारण करे ही करे; अतः जब आप पृथक् भासित नहीं हुआ, तब उनके समुदायरूप पर्याय में, अहंबुद्धि धारण करता है।

वहाँ आप (आत्मा) के और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध घने हैं; इसलिए भिन्नता भासित नहीं होती तथा जिस विचार से, भिन्नता भासित होती है, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिए पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है। (पृष्ठ 81-82)

ॐ

श्रोता उवाच—'अनेकानेक वस्तुओं में कुछ वस्तुएँ, उपयोगी (इष्ट) होती हैं, तथा कुछ अनुपयोगी (अनिष्ट) होती हैं; क्या यह मान्यता ठीक नहीं है ?'

पदार्थ में, इष्ट-अनिष्टपना नहीं

जैसे—जिसे वस्त्र नहीं मिलता हो, उसे मोटा वस्त्र ही इष्ट लगता है और जिसे महीन वस्त्र मिलता है, उसे वह अनिष्ट लगता है; सूकरादि को विष्टा इष्ट लगती है, देवादि को अनिष्ट लगती है; किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है।

तथा जैसे—शरीर, इष्ट है परन्तु रोगादिसहित हो जाए, तब अनिष्ट हो जाता है; पुत्रादि इष्ट हैं परन्तु कारण मिलनेपर, अनिष्ट होते देखे जाते हैं।

इसी प्रकार—एक जीव को भी, एक ही पदार्थ, किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है। वहाँ यह जीव, जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है।

तथा—यह जीव, जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है, वह भी इष्ट होता दिखाई देता है।

इस प्रकार पदार्थ में, इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है। (पृष्ठ 89)

ॐ

श्रोता उवाच— 'वस्तुओं का संयोग, कर्म निमित्त से बनता है; अतः कर्मों से तो राग-द्वेष करना, चाहिए ना ?'

राग-द्वेष करना, मिथ्या है

जैसे—कोई, अपने हाथ से पत्थर लेकर, अपना सिर फोड़ ले तो पत्थर का क्या दोष है ?

उसी प्रकार—जीव, अपने रागादि भावों से, पुद्गल को कर्मरूप परिणमित करके, अपना बुरा करे, तो कर्म का क्या दोष है ? **इसलिए कर्मों से भी राग-द्वेष करना, मिथ्या है।** (पृष्ठ 90)

42

सम्बोधन!

हे भव्य! यदि दुःखों से मुक्त होना चाहते हो, तो इन मिथ्यादर्शनादि विभावभावों का अभाव करना—यह ही कार्य है; इस कार्य को करने से, तेरा परम-कल्याण होगा!

(पृष्ठ 94)

पाँचवाँ अधिकार

अन्यमत निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

बहुविधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निजभाव।
ताको होत अभाव है, सहजरूप दरसाव॥

जिनधर्म में प्रवर्तने से ही, कल्याण होगा

अन्य कल्पित मतों की तरह (जैन में, श्वेताम्बरमत है), वह भी 'देवादि का, तत्त्वों का, व मोक्षमार्गादि का अन्यथा निरूपण' करता है; इसलिए मिथ्यादर्शनादि का पोषक है; अतः त्याज्य है।

सच्चे जिनधर्म का स्वरूप जानकर, उसके द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्तना योग्य है; वहाँ प्रवर्तने से तुम्हारा कल्याण होगा!

(पृष्ठ 167)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हम अपनी बुद्धि को धर्मकार्य में लगाते हैं, फिर भी हमें मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती?'

विपरीत श्रद्धान से, मिथ्यात्व नहीं मिटता

जैसे—कोई पुरुष, रोगी है, वह कुछ सावधानी को पाकर, कुपथ्य सेवन करे तो उस रोगी का सुलझना कठिन ही होता है।

तथा जिस प्रकार वैद्य, कुपथ्यों के विशेष दिखलाकर, उनके सेवन का निषेध करता है।

उसी प्रकार—यह जीव, मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानादि शक्ति को पाकर, विशेष **विपरीत श्रद्धानादि के कारणों का सेवन करे, तो इस जीव का मुक्त होना, कठिन ही होता है।**

तथा **उसी प्रकार**—यहाँ विशेष मिथ्याश्रद्धानादि के कारणों का विशेष दिखलाकर, उनका निषेध करते हैं।

(पृष्ठ 95)

ॐ

श्रोता उवाच— 'दुष्टों को मारने और भक्तों को सुख देने का कार्य भी यदि परमेश्वर न करे, तो उसकी महिमा कैसे प्रगट होगी ?'

उच्चपद में, निम्न कार्य से निन्दा ही

जैसे—जिस कार्य को छोटा आदमी ही कर सकता हो, उस कार्य को, राजा, आप आकर करे तो कुछ राजा की महिमा नहीं होती; निन्दा ही होती है।

उसी प्रकार—जिस कार्य को राजा या व्यन्तर देवादि कर सकें, उस कार्य को परमेश्वर, आप अवतार धारण करके करता है—ऐसा मानने से तो कुछ परमेश्वर की महिमा नहीं होती; निन्दा ही है।

(पृष्ठ 105)

ॐ

श्रोता (अन्यमति) उवाच— *'हमारा श्रद्धान है कि भगवान विष्णु ही, विश्व की रक्षा और जीवों को सुखी-दुःखी करते हैं।'*

भले-बुरे का कारण, स्वयं या विष्णु ?

जैसे—शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य, किसी का कुछ भला हो तो कहता है—'मेरा किया हुआ है' और जहाँ बुरा हो—मरण हो, तब कहता है—'इसकी ऐसी ही होनहार थी'।

उसी प्रकार—तू कहता है—'भला हुआ, वहाँ तो विष्णु का किया हुआ और बुरा हुआ, वह इसके कर्तव्य का फल हुआ।'—ऐसी [मिथ्या] कल्पना, किसलिए करते हो? **बुरा व भला, दोनों या तो विष्णु के किए कहो या अपने कर्तव्य का फल कहो।**

(पृष्ठ 108)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हम, ठाकुरजी की पूजा के लिए, उनके गुणों और रूपों का अनुसरण करते हैं, तो इसमें क्या दोष है?'

भक्ति के नामपर, अनैतिकता योग्य नहीं!

जिस प्रकार—शृंगार वर्णन, नायक-नायिका का करते हैं, वैसा ठाकुर-ठकुरानी का करते हैं। तथा ठाकुर द्वारा 'युद्धादि किये' कहते हैं; ठाकुर के द्वारा, परस्त्री सेवन आदि निन्दनीय कार्यों की प्रवृत्ति चलाना कहते हैं। तथा महादेव के लिंग ही का आकार बनाते हैं। तथा नाना प्रकार की विषयसामग्री एकत्रित करते हैं। तथा 'ठाकुर को भोग लगाया' कहते हैं, तथा ठाकुरजी के लिए नृत्य-गानादि कराना; शीत-ग्रीष्म-वसन्तादि ऋतुओं में संसारियों के होनेयोग्य—ऐसी विषयसामग्री इत्यादि कार्य करते हैं। तथा वहाँ जन्म-विवाह आदि व सोने-जागने इत्यादि की कल्पना करते हैं।

इस प्रकार—ठाकुर के नामपर, ऐसे निन्दकार्य करने से, क्या सिद्धि हुई—ऐसे भाव तो भले नहीं हैं यदि ये भाव ही भले हों, तो ब्रह्मचर्य को व क्षमादि को भला किसलिए कहते हैं? जिसका नाम लेने से लाज आती है, जगत् जिसे ढँककर रखता है, उसके आकार की पूजा कराते हैं। नाना प्रकार की विषयसामग्री एकत्रित करते हैं। वहाँ नाम तो ठाकुर का करते हैं और आप उसका उपभोग करते हैं। यहाँ नाम तो ठाकुर का लेना और इन्द्रियों के विषय अपने पोषण करना तथा जैसे—लड़कियाँ, गुड्डा-गुड़ियों का खेल बनाकर, कौतूहल करती हैं; वैसे यह भी कौतूहल करना है, कुछ परमार्थरूप गुण नहीं है। तथा लड़के, ठाकुर का स्वांग बनाकर चेष्टाएँ दिखाते हैं और कहते हैं यह भी भक्ति है।

ऐसी अनेक विपरीतताएँ, सगुणभक्ति में पायी जाती हैं। (पृष्ठ 120-122)

ॐ

श्रोता उवाच—*'अन्यमतों में भी विरागता, दया आदि के कथन हैं, क्या वे मत असत्य हैं?'*

असत्यता में, सत्यता की मिलावट

जैसे—झोल (नकली आवरण) बिना, खोटा द्रव्य नहीं चलता।

उसी प्रकार—सच को मिलाए बिना, झूठ नहीं चलता, परन्तु **सभी (अन्यमतों) ने हित या प्रयोजन के नामपर, विषयकषाय का ही पोषण किया है।** जैसे—गीता में उपदेश देकर, युद्ध कराने का प्रयोजन प्रगट किया; वेदान्त में, शुद्धनिरूपण करके, स्वच्छन्द होने का प्रयोजन दिखाया—ऐसे ही अन्य जानना। (पृष्ठ 124)

श्रोता उवाच—*'क्या उपदेश में, किसी भी जीव की निन्दा करना, योग्य है?'*

पाप की निन्दा से, पापी ही दुःखी होते हैं

जैसे—मदिरा की निन्दा करने से, कलाल दुःखी हो; कुशील की निन्दा करने से, वेश्यादि दुःख पाएँ और खरे-खोटे को पहिचानने की परीक्षा बतलाने से, ठग दुःखी हों तो (हम) क्या करें?

इसी प्रकार—यदि पापियों के भय से, धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पावें?

(पृष्ठ 138)

पाँचवाँ अधिकार, चित्र 5

सर्व मत की असमानता

ॐ

श्रोता उवाच— *'जिनधर्म के देव और हमारे देव समान ही हैं, इसलिए सभी को पूजना योग्य है।'*

जिनधर्म और अन्यमतों में, समानता नहीं

जैसे—कोई व्यापारी, सच्चे रत्न दिखाए, कोई झूठे रत्न दिखाए; वहाँ झूठे रत्नोंवाला तो सर्व रत्नों का समान मूल्य लेने के लिए, समान कहता है परन्तु सच्चे रत्नवाला कैसे समान माने?

तथा जैसे—(आपके अनुसार) गणधर के सूत्रों के अनुसार, कोई दशपूर्वधारी हुए हैं, उन्होंने ये सूत्र बनाए हैं। यह कार्य तो, ऐसा हुआ, जैसे कोई बड़े साहूकार की कोठी के नाम से, अपना साहूकारा प्रगट करे — ऐसा यह कार्य हुआ।

उसी प्रकार—जैनी, सच्चे देवादि का निरूपण करता है, अन्यमती झूठे निरूपित करता है; वहाँ अन्यमती अपनी समान महिमा के लिए, सर्व को समान कहता है परन्तु जैनी कैसे माने? इसलिए परीक्षा करके ज्ञानी, ठगाता भी नहीं।

उसी प्रकार—यदि नये ग्रन्थ बनाए हैं तो नया नाम रखना था, अंगादि के नाम किसलिए रखे? सच्चे व्यक्ति को तो जिस प्रकार दिगम्बरों में ग्रन्थों के और नाम रखे तथा उन्हें पूर्व ग्रन्थों का अनुसारी कहा है; उसी प्रकार [आपको भी] कहना योग्य था। अंगादि के नाम रखकर, गणधरकृत का भ्रम किसलिए उत्पन्न किया? इसलिए ये गणधर के व पूर्वधारी के वचन नहीं हैं।

जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिककार्य घटाने का प्रयोजन है और उनमें, कषाय का पोषण करने का तथा लौकिककार्य साधने का प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन नहीं मिलता।

(पृष्ठ 12, 140, 145, 146)

ॐ

श्रोता उवाच— *'यदि मुनिराज, क्षुधावेदना होनेपर, तप में वृद्धि हेतु, आहार की प्रार्थना भी करें तो क्या दोष है ?'*

मुनिराज, आहार की याचना नहीं करते

जैसे—किसी व्यापारी को कमाने की इच्छा मन्द है, वह दुकान पर तो बैठे और मन में व्यापार करने की इच्छा भी है परन्तु किसी से वस्तु लेन-देनरूप व्यापार के लिए प्रार्थना नहीं करता है; स्वयमेव कोई आए तो अपनी विधि मिलनेपर, व्यापार करता है तो उसको लोभ की मन्दता है; माया व मान भी नहीं है।

उसी प्रकार—(दिगम्बर जैन) मुनियों को, आहारादि की इच्छा मन्द है। वे आहार लेने आते हैं, मन में आहार लेने की इच्छा भी है परन्तु आहार के लिए प्रार्थना नहीं करते; **स्वयमेव कोई दे तो अपनी विधि मिलनेपर, आहार लेते हैं; वहाँ उनके लोभ की मन्दता है; माया व मान भी नहीं है।** (पृष्ठ 155)

ॐ

श्रोता उवाच—'हम प्रतिमा बिना ही, भगवान में अनुराग करेंगे, इसमें प्रतिमा बनाकर, पूजनादि करने का क्या प्रयोजन है।'

फल, क्रिया नहीं, भावों के अनुरूप

जैसे—कोई, किसी जीव का आकार बनाकर घात करे, तो उसे उस जीव की हिंसा करने जैसा पाप होता है, व कोई किसी का आकार बनाकर, द्वेषबुद्धि से उसकी बुरी अवस्था करे, तो जिसका आकार बनाया, उसकी बुरी अवस्था करने जैसा फल होता है।

उसी प्रकार—अरहन्त का आकार बनाकर, धर्मानुराग बुद्धि से, पूजनादि करे तो अरहन्त के पूजनादि करने जैसा शुभ (भाव) उत्पन्न होता है तथा वैसा ही फल होता है। अति अनुराग होनेपर, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होने से, **आकार बनाकर, पूजनादि करते हैं—इस धर्मानुराग से महा-पुण्य होता है।** (पृष्ठ 163-164)

ॐ

श्रोता उवाच—*'हम, परिणामों के स्थानपर, प्रयोजन देखकर कार्य करें तो क्या दोष है?'*

रागादि का घटना ही, कार्यकारी

जैसे—थोड़ा धन ठगाने पर, बहुत धन का लाभ हो तो वह कार्य करना, योग्य है।

उसी प्रकार—थोड़े हिंसादि पाप होनेपर, बहुत धर्म उत्पन्न हो तो वह कार्य करना, योग्य है।

तथा जैसे—यदि थोड़े धन के लोभ से, कार्य बिगाड़े तो मूर्ख है।

उसी प्रकार—थोड़ी हिंसा के भय से, बड़ा धर्म छोड़े तो पापी ही होता है।

तथा जैसे—कोई बहुत धन ठगाए और थोड़ा धन उत्पन्न करे या उत्पन्न न करे, तो वह मूर्ख ही है।

उसी प्रकार—बहुत हिंसादि द्वारा बहुत पाप उत्पन्न करे और भक्ति आदि धर्म में, थोड़ा प्रवर्ते या नहीं प्रवर्ते, तो वह पापी ही है।

तथा जैसे—बिना ठगाए ही धन का लाभ होनेपर, ठगाए तो मूर्ख है।

उसी प्रकार—निरवद्यधर्मरूप उपयोग होनेपर, सावद्यधर्म में उपयोग लगाना, योग्य नहीं है।

अपने परिणामों की अवस्था देखकर, 'जो भला हो, वह करना'; एकान्त पक्ष कार्यकारी नहीं है। **रागादि का घटना, धर्म का मुख्य अंग है; इसलिए जिस प्रकार परिणामों में रागादि घटें, वह कार्य करना।** (पृष्ठ 165-166)

छठा अधिकार

कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध

॥ ॐ नमः ॥

मिथ्या देवादिक भजें, हो है मिथ्याभाव।
तजि तिनकों सांचे भजौ, यह हित-हेतु उपाव॥

श्रोता उवाच— *'श्वेताम्बर साधुओं को पूजने में, क्या दोष है?'*

उनके ग्रन्थों में ही, उन साधुओं का निषेध है

श्वेताम्बरों के अपने ग्रन्थों में, स्वयं इन साधुओं का निषेध करते हुए, '**यैर्जातो न च, वर्धितो न च, न च क्रीतो**', इत्यादि काव्य हैं।

(समाधान)—जैसे, जिसका हीनपुरुष निषेध करें, उसका उत्तमपुरुष को तो सहज ही निषेध हुआ।

उसी प्रकार—जिनके वस्त्रादि उपकरण कहे, वे (श्वेताम्बर) ही जिसका निषेध करें, तब दिगम्बरधर्म में तो ऐसी विपरीतता का सहज ही निषेध हुआ। (पृष्ठ 181)

ॐ

श्रोता उवाच—'ये क्षेत्रपालादि, जीवों को तीर्थंकर से मिलाने का कार्य करते हैं, फिर आप, उनकी भक्ति-पूजनादि का निषेध क्यों करते हो?'

क्षेत्रपालादि का समवसरण में अधिकार नहीं

जैसे—राजा के प्रतिहार (सेवक) आदि होते हैं; वैसे तीर्थंकर के क्षेत्रपाल आदि होते हैं। प्रतिहारादि के मिलानेपर, राजा से मिलते हैं। ये (क्षेत्रपालादि), तीर्थंकर से नहीं मिलाते।

उसी प्रकार—उनसे (श्रोता) कहते हैं—समवसरण आदि में इनका अधिकार ही नहीं है; यह तो झूठी मान्यता है। ये क्षेत्रपालादि, तीर्थंकर से नहीं मिलाते; वहाँ तो जिसके भक्ति हो, वही तीर्थंकर के दर्शनादि करता है; कोई किसी के आधीन नहीं है।

देखो, अज्ञानता! आयुधादि सहित रौद्रस्वरूप है जिनका, उनकी गा-गाकर भक्ति करते हैं। यदि भक्ति की ही विशेषता से पूजते हो, तो सम्यग्दृष्टियों में सौधर्मइन्द्र विशेष है; अतः उसे छोड़कर, इन्हें किसलिए पूजते हैं?

ऐसे जिनमत में भी, रौद्ररूप पूज्य हुआ, तो यह भी अन्यमत ही के समान हुआ।

— ऐसे क्षेत्रपाल आदि को भी पूजना, योग्य नहीं है।

(पृष्ठ 173-174)

ॐ

श्रोता उवाच—*'जिस प्रकार राजादि महन्त पुरुषों को, मिथ्यात्वादि होनेपर भी, नमस्कार किया जाता है; वैसे ही इनको नमस्कार करने में क्या दोष है?'*

तत्त्वश्रद्धानी, कुगुरु को नमन नहीं करता

जिस प्रकार—शीलवती स्त्री, पर-पुरुष के साथ, भर्तार की भाँति, रमणक्रिया सर्वथा नहीं करती।

उसी प्रकार—तत्त्वश्रद्धानी पुरुष, कुगुरु के साथ, सुगुरु की भाँति, नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता, क्योंकि यह तो जीवादि तत्त्वों का श्रद्धानी हुआ है और वीतरागभाव को श्रेष्ठ मानता है।

तथा यहाँ कोई प्रश्न करे—राजादि को (नमस्कारादि) करते हैं; वैसे इन कुगुरुओं को भी करते हैं?

उसका उत्तर—राजादि, धर्मपद्धति में नहीं हैं; गुरु का सेवन तो धर्मपद्धति में है। वहाँ राजादि का सेवन तो लोभादि से होता है।

इसलिए रागादि पाये जाएँ, उन्हें निषिद्ध जानकर, नमस्कारादि कदापि नहीं करें।

(पृष्ठ 187)

छठवाँ अधिकार, चित्र ६

वीतराग सर्वज्ञदेव के अनुसार पंचम काल के अन्त तक सच्चे भावलिंगी मुनिराज, आर्यिका माता व सच्चे श्रावक-श्राविका का अभाव नहीं होगा।

दृष्टान्त

सिद्धान्त

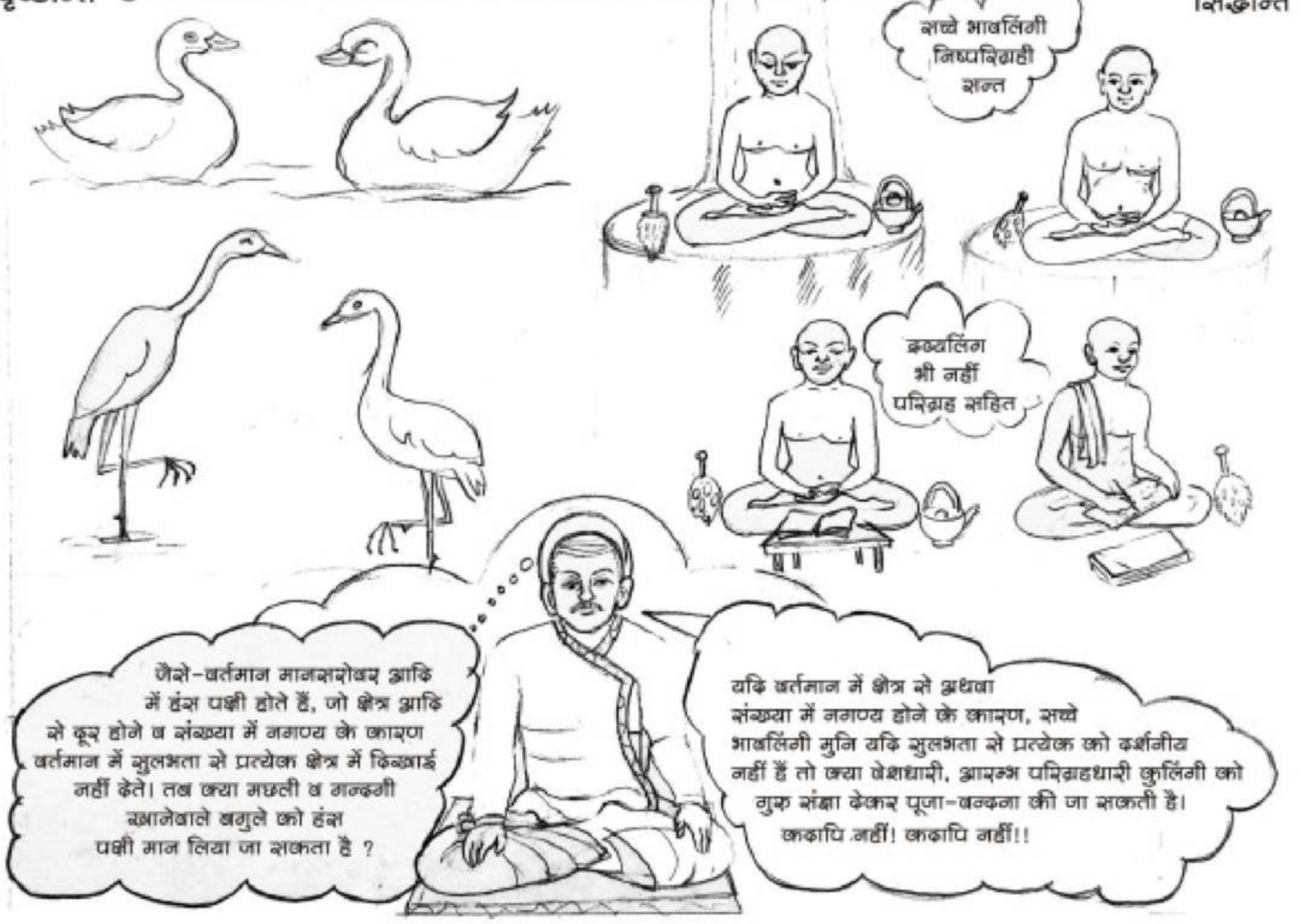

ॐ

श्रोता उवाच— 'जैनशास्त्रों में, वर्तमान में केवली का तो अभाव कहा है, मुनि का नहीं; अत: मुनियों की उपेक्षा करना किस तरह उचित है?'

कुगुरुओं को, मुनि नहीं माना जा सकता

जिस प्रकार—वर्तमान में हंसों का सद्भाव कहा है परन्तु हंस दिखायी नहीं देते, तो अन्य पक्षियों को तो हंस माना नहीं जाता।

उसी प्रकार—वर्तमान में मुनियों का सद्भाव कहा है परन्तु मुनि दिखायी नहीं देते, तो औरों को तो मुनि माना नहीं जा सकता।

जैनशास्त्रों में, मुनि का तो अभाव नहीं कहा है। ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशों में सद्भाव रहेगा; **भरतक्षेत्र में कहते हैं परन्तु भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं सद्भाव होगा; इसलिए अभाव नहीं कहा है।** (पृष्ठ 184)

56

सम्बोधन!

'अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है; इनमें शिथिलता रखने से, अन्य धर्म किस प्रकार हो सकता है? इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।' (पृष्ठ-192)

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन

॥ ॐ नमः ॥

इस भवतरु को मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥

श्रोता उवाच— *शास्त्रों में जीव को, सिद्धसमान शुद्ध कैसे कहा है ?*

द्रव्य अपेक्षा समान कहा है

जैसे—राजा और रंक, मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं परन्तु राजापने और रंकपने की अपेक्षा तो समान नहीं हैं।

उसी प्रकार—सिद्ध और संसारी, जीवत्वपने की अपेक्षा, समान हैं परन्तु सिद्धपने और संसारीपने की अपेक्षा तो समान नहीं हैं।

ये तो जैसे सिद्ध, शुद्ध हैं; वैसा ही अपने को शुद्ध मानते हैं परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था, पर्याय है—इस **पर्याय अपेक्षा, समानता मानी; अतः यही मिथ्या दृष्टि (मिथ्यादर्शन) है।** (पृष्ठ 193)

ॐ

श्रोता उवाच— *'शास्त्रों में जीव का स्वभाव, केवलज्ञान कहा है, वैसा ही हम अपने को अनुभवते हैं; इसमें क्या दोष है ?'*

संसारी को केवलज्ञानी मानना, दुःख का कारण

जैसे—जल को अग्नि का निमित्त होनेपर, उष्णपना हुआ; वहाँ शीतलपने का अभाव ही है परन्तु अग्नि का निमित्त मिटनेपर, शीतलता ही हो जाती है; इसलिए सदा काल, जल का स्वभाव, शीतल कहा जाता है क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर, स्वभाव व्यक्त हुआ कहते हैं, कभी व्यक्तरूप भी होता है। तथा जैसे—शीतलस्वभाव के कारण, उष्णजल को शीतल मानकर, कोई पानादि करे तो जलना ही होता है।

उसी प्रकार—आत्मा को कर्म का निमित्त होनेपर, अन्यरूप हुआ, वहाँ केवलज्ञान का अभाव ही है परन्तु कर्म का निमित्त मिटनेपर, सर्वदा केवलज्ञान हो जाता है; इसलिए सदा काल, आत्मा का स्वभाव, केवलज्ञान कहा जाता है क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर, स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है।

केवलज्ञानस्वभाव के कारण, अशुद्ध-आत्मा को केवलज्ञानी मानकर अनुभव करे, तो दुःखी ही होता है। (पृष्ठ 194-195)

ॐ

श्रोता उवाच—'आप राग को कभी आत्मा का कहते हैं; कभी, राग को पर का कहते हैं, वास्तव में सच्चाई क्या है ?'

उपदेश का आशय, विपरीत मान्यता छुड़ाना है

जैसे—वैद्य, रोग मिटाना चाहता है। यदि शीत की अधिकता देखता है तो उष्ण औषधि बतलाता है और यदि आताप की अधिकता देखता है तो शीतल औषधि बतलाता है।

उसी प्रकार—श्रीगुरु, रागादि छुड़ाना चाहते हैं; यदि रागादि को पर का मानकर, स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है तो उसे उपादानकारण की मुख्यता से, रागादि, आत्मा के हैं—ऐसा श्रद्धान कराया है तथा यदि रागादि को अपना स्वभाव मानकर, उनके नाश का उद्यम नहीं करता तो उसे निमित्तकारण की मुख्यता से, रागादि, परभाव हैं—ऐसा श्रद्धान कराया है।

(पृष्ठ 196-197)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हमारे रागादि विकार दूर होने में मुख्य कारण, मोहकर्म का उपशमादि है; अतः राग-द्वेषादि होने में, हमारा क्या दोष है ?'

तेरा कर्तव्य तो तत्त्वविचार का उद्यम ही है!

जैसे—पुत्र होने का कारण, बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक, भवितव्य है; वहाँ पुत्र का अर्थी, विवाहादि का तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयमेव मिले, तब पुत्र हो।

उसी प्रकार—विभाव दूर करने के कारण, बुद्धिपूर्वक तो तत्त्व-विचारादि हैं और अबुद्धिपूर्वक, मोहकर्म के उपशमादि हैं; अतः उसका अर्थी, तत्त्वविचारादि का तो उद्यम करे और मोहकर्म के उपशमादि स्वयमेव मिलें, तब रागादि दूर होते हैं।

श्रोता पुनः प्रश्न करता है—**जैसे-विवाहादि भी भवितव्याधीन हैं, तत्त्वविचारादि भी कर्म के क्षयोपशमादि के आधीन हैं; इसलिए उद्यम करना, निरर्थक है ?**

उसे **उत्तर** देते हैं—तत्त्वविचारादि करनेयोग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो तेरे हुआ है; इसलिए उपयोग को वहाँ लगाने का उद्यम कराते हैं।

(पृष्ठ 197)

ॐ

श्रोता उवाच— 'जिन शास्त्रों में, अध्यात्म उपदेश है, उनका अभ्यास करना; अन्य शास्त्रों का अभ्यास करने से क्या सिद्धि है ?'

चारों ही अनुयोग, कार्यकारी

जैसे—जिसको विषयासक्तपना हो, वह (जीव), विषयासक्त पुरुषों की कथा भी रुचिपूर्वक सुने, विषय के विशेष को भी जाने और विषय के आचरण में जो साधन हों, उन्हें भी हितरूप माने, और विषय के स्वरूप को भी पहिचाने।

उसी प्रकार—जिसको आत्मरुचि हुई हो, वह आत्मरुचि के धारक तीर्थंकरादि के पुराणों को भी जाने; आत्मा के विशेष जानने के लिए, गुणस्थानादि को भी जाने और आत्मा के आचरण में जो व्रतादि साधन हैं, उनको भी हितरूप माने, और आत्मा के स्वरूप को भी पहिचाने; **इसलिए चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं।** (पृष्ठ 201)

ॐ

श्रोता उवाच—'जिनवाणी में, जो बुद्धि, आत्मस्वरूप से निकलकर, बाह्य शास्त्रों में विचरे, उसे व्यभिचारिणी बताया है। इसलिए शास्त्र-अभ्यास क्यों करना ?'

शास्त्राभ्यास का उद्यमी होना, योग्य है!

जैसे—स्त्री, शीलवती रहे तो योग्य ही है और न रहा जाए, तब उत्तमपुरुष (पति) को छोड़कर, चाण्डालादि (पर पुरुष) का सेवन करने से तो अत्यन्त निन्दनीय होती है।

उसी प्रकार—बुद्धि, आत्मस्वरूप में प्रवर्ते तो योग्य ही है और न रहा जाए, तो प्रशस्त (शुभ) शास्त्रादि परद्रव्यों को छोड़कर, अप्रशस्त (अशुभ) विषयादि में लगे तो महानिन्दनीय ही होती है।

प्रश्न-मैं, आत्मस्वरूप ही का चिन्तवन, निरन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार से करता रहूँ, तो क्या दोष है ?

उत्तर-मुनिराजों की भी बुद्धि, स्वरूप में बहुत काल तक नहीं रहती, तो तेरी कैसे रह सकती है ?

इसलिए शास्त्राभ्यास में उपयोग लगाना, योग्य है।

(पृष्ठ 201)

ॐ

श्रोता उवाच—' *कर्म का न जाने कैसा उदय आए और ली गयी प्रतिज्ञा भंग हो जाए तो महापाप लगता है; इसलिए जो कार्य बने, वह बनो; प्रतिज्ञा क्यों करना।'*

प्रतिज्ञा, शक्तिप्रमाण लेना चाहिए

जैसे—अपने को पचता जाने, उतना भोजन करे। कदाचित् किसी को भोजन से अजीर्ण हुआ हो और यदि उस भय से, भोजन करना छोड़ दे, तो मरण ही हो।

उसी प्रकार—अपने से निर्वाह होता जाने, उतनी प्रतिज्ञा करे। कदाचित् किसी को प्रतिज्ञा से भ्रष्टपना हुआ हो और यदि उस भय से, प्रतिज्ञा करना छोड़ दे, तो असंयम ही हो; इसलिए जो बन सके, वह प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

वहाँ यदि आगामी (कर्म) उदय के भय से, प्रतिज्ञा न ली जाए, तो उदय को विचारने से, सर्व ही कर्तव्य का नाश होता है।

(पृष्ठ 204)

ॐ

श्रोता उवाच— 'शुभभाव, धर्म के कारण नहीं हैं-ऐसा शास्त्रों में कहा है; अत: व्यवहारधर्म छोड़कर, मात्र आत्मचिन्तन में लगना ही योग्य है।'

प्रमाद में काल गँवाना, योग्य नहीं

जैसे—बहुत खीर-खाण्ड खाकर, पुरुष आलसी हो जाता है तथा जैसे-वृक्ष, निरुद्यमी हैं। तथा जैसे-कोई निठल्ला व्यापारादि में निरुद्यमी होकर, जैसे-तैसे काल गँवाता है। तथा जैसे-कोई आलसी होकर पड़े रहने में, सुख मानता है।

उसी प्रकार—तू प्रमादी, धर्म में निरुद्यमी होकर, यों तो काल गँवाता है। ऐसा जीव, पुरुषार्थ से रहित होते हुए, आलसी व निरुद्यमी होता है। उनकी निन्दा, शास्त्रों में की गयी है। कभी कुछ चिन्तवन-सा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है परन्तु अपना उपयोग, निर्मल करने के लिए, शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कार्यों में नहीं प्रवर्तता; सूना-सा होकर, प्रमादी होने का नाम, 'शुद्धोपयोग' ठहराकर, वहाँ थोड़ा क्लेश होने से, वैसे ही यह आनन्द मानता है। (पृष्ठ 208)

निश्चयाभासी की भूल

सातवाँ अधिकार, चित्र 7-1

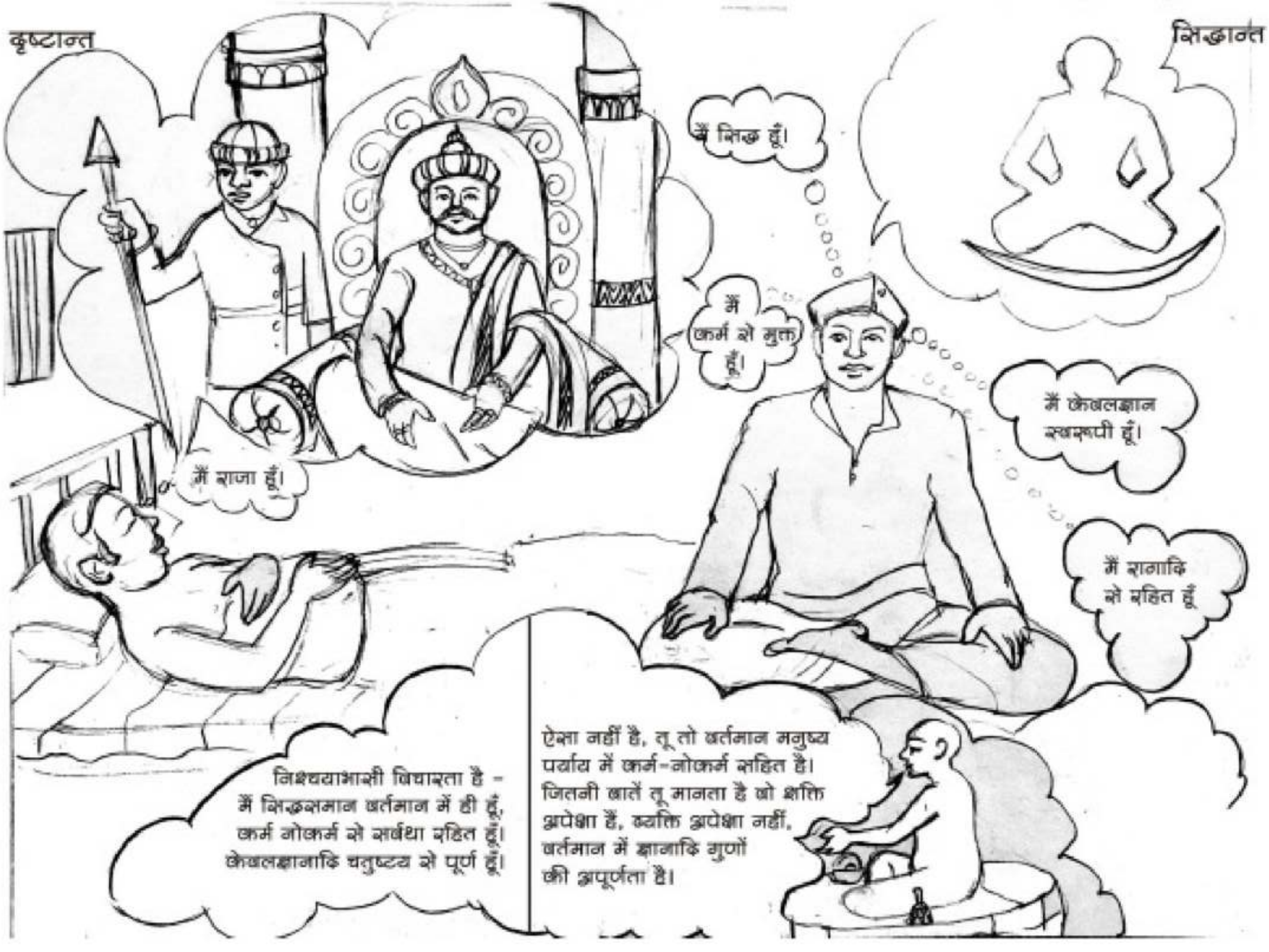

ॐ

श्रोता उवाच— 'स्वयं को सिद्धसमान शुद्ध मानने में आनन्द प्रगट होता है, इस प्रकार का विचार भी, सुख का कारण है तथा परिवार और व्यापारादि को छोड़कर, आत्मचिन्तन में, रहने से ही वैराग्य प्रगट होता है; जिनवाणी के अनुरूप यह मान्यता तो ठीक है न?'

भ्रमरूप वैराग्य तो कषायगर्भित है

जैसे—कोई स्वप्न में, अपने को राजा मानकर, सुखी होता है। तथा जैसे–कहीं रति मानकर, सुखी होता है। तथा जैसे–कहीं अरति मानकर उदास होता है।

उसी प्रकार—(निश्चयाभासी जीव), अपने को भ्रम से सिद्धसमान शुद्ध मानकर, स्वयं ही आनन्दित होता है। कुछ विचार करने में रति मानकर, सुखी होता है; और उसे अनुभवजनित आनन्द कहता है। व्यापारादि व पुत्रादि को खेद का कारण जानकर, उनसे उदास रहता है और उसे वैराग्य मानता है परन्तु ऐसा ज्ञान–वैराग्य तो कषायगर्भित है।

जो वीतरागरूप उदासीनदशा में निराकुलता होती है, वह सच्चा आनन्द–ज्ञान–वैराग्य, ज्ञानी जीवों को चारित्रमोह की हीनता होनेपर, प्रगट होता है। ऐसी (निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि को) भ्रमरूप प्रवृत्ति पायी जाती है।

इस प्रकार जो जीव, केवल निश्चयाभास के अवलम्बी हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

(पृष्ठ 208–209)

ॐ

श्रोता उवाच— 'परद्रव्य को जानने में राग-द्वेष होता है; इसलिए अपने स्वरूप को ही जानते रहना चाहिए; यही वीतरागता का कारण है।'

परद्रव्य को जानते हुए भी, वीतरागभाव

जैसे—कोई स्त्री, विकारभाव से पर-घर जाती थी, उसे मना किया कि पर-घर मत जाओ; घर में बैठी रहो, परन्तु जो स्त्री, निर्विकारभाव से किसी के घर जाकर, यथायोग्य प्रवर्ते, तो कुछ दोष है नहीं। जैसे—विकाररहित स्त्री, कुशील के कारण, पराये घरों का त्याग करती है तथा जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं—ऐसे पराये घरों में जाने का त्याग है नहीं। तथा जैसे—शीलवती स्त्री, उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषों के स्थानपर न जाए; यदि परवश वहाँ जाना बन जाए, वहाँ कुशील सेवन न करे, तो स्त्री, शीलवती ही है।

उसी प्रकार—उपयोगरूप परिणति, राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में प्रवर्तती थी, उसे मना किया कि परद्रव्यों में प्रवर्तन मत करो; स्वरूप में मग्न रहो; परन्तु, जो उपयोगरूप परिणति, वीतरागभाव से परद्रव्य को जानकर, यथायोग्य प्रवर्ते, तो कुछ दोष है नहीं।

तथा—वीतरागपरिणति, राग-द्वेष के कारण परद्रव्यों का त्याग करती है, जो राग-द्वेष के कारण नहीं हैं—ऐसे परद्रव्यों को जानने का त्याग है नहीं। तथा वीतरागपरिणति, उपायपूर्वक तो रागादि के कारण परद्रव्यों में नहीं लगे; यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाए, वहाँ रागादि न करे, तो परिणति, शुद्ध ही है।

इस प्रकार परद्रव्य को जानते हुए भी, वीतरागभाव होता है।

(पृष्ठ 212)

ॐ

श्रोता उवाच—'उपदेश में व्रत, तप, स्वाध्याय को, बन्ध का कारण कहा है; अतः क्या हमें इनको छोड़ देना चाहिए ?'

स्वयं की भूल के लिए, उपदेशदाता दोषी नहीं

जैसे—कोई रोगी, निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर, औषधि साधन को छोड़कर, कुपथ्य [सेवन] करेगा, तो वह मरेगा; उसमें वैद्य का कुछ दोष है नहीं।

उसी प्रकार—कोई संसारी, पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर, धर्मसाधन छोड़, विषय-कषायरूप प्रवर्तन करेगा, तो वह स्वयं नरकादि में दुःख पाएगा; उपदेशदाता का तो दोष है नहीं। (पृष्ठ 213)

श्रोता उवाच—'हम, जिनदेव व आचार्यों से रचित, शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं; इसमें क्या दोष है ?'

ग्रन्थ की परीक्षा, कर्ता के नाम से नहीं

जैसे—किसी ठग ने स्वयं पत्र लिखकर, उसमें लिखनेवाले का नाम 'किसी साहूकार' का रखा, उस नाम के भ्रम से, [कोई] धन को ठगाए, तो दरिद्री ही होता है।

उसी प्रकार—पापी लोगों ने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर, वहाँ कर्ता का नाम, जिन-गणधर-आचार्यों का रखा, उस नाम के भ्रम से, [कोई] झूठ श्रद्धान करे, तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। (पृष्ठ 217)

67/68

ॐ

श्रोता उवाच— *'परिवार के पालन-पोषण के लिए धन कमाना तो आवश्यक है। यदि हम, धर्म साधनों से धन कमाएँ और आजीविका भी चलायें, तो क्या दोष है?'*

धर्मकार्यों को, आजीविका का प्रयोजन बनाना, योग्य नहीं

जैसे—कोई, धर्म का साधन, चैत्यालय बनवाए और उसी को स्त्रीसेवनादि पापों का भी साधन करे, तो पापी ही है; हिंसादि द्वारा भोगादि के लिए अलग मकान बनवाता है तो बनाओ, परन्तु चैत्यालय में भोगादि करना, योग्य नहीं है।

उसी प्रकार—धर्म के साधन, पूजा-शास्त्रादि कार्य हैं, उन्हीं को आजीविकादि पाप का भी साधन बनाए तो पापी ही है। हिंसादि से, आजीविकादि के लिए, व्यापारादि करता है तो करो, परन्तु **पूजादि (धर्म) कार्यों में तो आजीविकादि का प्रयोजन विचारना, योग्य नहीं है।**

(पृष्ठ 219)

ॐ

श्रोता उवाच— 'यदि कोई द्रव्यलिंगी, आगम-उपदेश के आधार से, वस्तुस्वरूप को जानता है तो उसका आगमाश्रित ज्ञान, सम्यक्त्व का कारण है या नहीं ?'

भावभासन बिना, मिथ्यादृष्टि ही है

जैसे—कोई पुरुष, (गायन में) चतुर होने के लिए, शास्त्र द्वारा स्वर-ग्राम-मूर्छना, रागों के रूप, ताल-तान के भेदों को सीखता है परन्तु स्वरादि का स्वरूप नहीं पहिचानता। स्वरूप की पहिचान हुए बिना, अन्य स्वरादि को, अन्य स्वरादिरूप मानता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता है; इसलिए उसके चतुरपना नहीं होता।

उसी प्रकार—कोई जीव, सम्यक्त्वी होने के लिए, शास्त्र द्वारा, जीवादि तत्त्वों का स्वरूप सीख लेता है परन्तु उनके स्वरूप को नहीं पहिचानता है। स्वरूप को पहिचाने बिना, अन्य तत्त्वों को, अन्य तत्त्वरूप मान लेता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता; **इसलिए उसके सम्यक्त्व नहीं होता।**

तथा—कुछ (जीव), जीवादि तत्त्वों के विशेष भेद जानते हैं परन्तु भावभासित नहीं होता; इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

(पृष्ठ 224-225)

ॐ

श्रोता उवाच— *'क्या अल्पबुद्धि तिर्यंच को भी, भावभासना हो सकती है ?'*

स्वरूप को जाने, वो ज्ञानी

जैसे—कोई [संगीत] शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो, परन्तु स्वरादि के स्वरूप को पहिचानता है तो वह चतुर ही है।

उसी प्रकार—शास्त्र पढ़ा हो या न पढ़ा हो; यदि जीवादि के स्वरूप को पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है।

तथा **जैसे—हिरन, स्वर -रागादि के नाम नहीं जानता, परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानता है। शिवभूति मुनि, जीवादि का नाम नहीं जानते थे और 'तुषमाषभिन्न'—ऐसा रटने लगे, यद्यपि यह सिद्धान्त का शब्द नहीं था परन्तु स्व-पर के भावरूप ध्यान किया; इसलिए केवली हुए।**

उसी प्रकार—तुच्छबुद्धि, जीवादि के नाम नहीं जानते, परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानते हैं कि 'यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं'—ऐसे **स्वरूप को पहिचाने, उसका नाम भावभासना है।** जीवादि तत्त्वों के विशेष न जानते हुए भी, **भावभासनासहित जीव, ज्ञानी हो जाते हैं।**

(पृष्ठ 224-225)

ॐ

श्रोता उवाच—'जो बहिरंग कषाय आदि का और सप्त व्यसनादि का त्यागी है तो क्या जिनागम भी उसे त्यागी मानता है?'

भय या लोभ से, त्यागी नहीं होता

जैसे—कोई राजादि के भय से अथवा महन्तपने के लोभ से, परस्त्री सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते।

उसी प्रकार—बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से, क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है; इसलिए यह क्रोधादि का त्यागी नहीं है।

प्रश्न—तो त्यागी कैसे होता है?

उत्तर—पदार्थ, अनिष्ट-इष्ट भासित होने से, क्रोधादि होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से, कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म (त्याग) होता है।

(पृष्ठ 228-229)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हम, मुनिराजों का द्रव्यलिंग और बहिरंगतप देखकर, उन्हें मोक्षमार्गी मानते हैं, इसमें क्या दोष है ?'

वीतरागतारहित बहिरंगतप, कार्यकारी नहीं

जैसे—धन को व अन्न को प्राण कहा है क्योंकि धन से अन्न लाकर, उसका भक्षण करके, प्राणों का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से धन और अन्न को प्राण कहा है परन्तु कोई इन्द्रियादि प्राणों को न जाने और इन्हीं को (धन ही को) प्राण जानकर, संग्रह करे तो मरण को ही प्राप्त होगा।

उसी प्रकार—अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है क्योंकि अनशनादि साधन से, प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके, वीतरागभावरूप सत्य तप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है परन्तु **कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर, संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण करेगा।** (पृष्ठ 233)

ॐ

श्रोता उवाच— *'हमने, शास्त्रों में, स्वर्गसुख का वर्णन पढ़ा है; वैसा ही सुख, मोक्ष में होता होगा ?'*

स्वर्ग और मोक्षसुख की जाति, एक नहीं

जैसे—तीर्थंकर के शरीर की प्रभा को, सूर्यप्रभा से कोटिगुनी कही है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है परन्तु लोक में सूर्यप्रभा की महिमा है; उससे भी अधिक महिमा बतलाने के लिए, उपमालंकार करते हैं।

उसी प्रकार—सिद्धसुख को, इन्द्रादिसुख से अनन्तगुना कहा है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है परन्तु लोक में इन्द्रादिसुख की महिमा है; उससे भी अधिक महिमा बतलाने के लिए, उपमालंकार करते हैं।

जैसे—कोई गायन का स्वरूप न पहिचाने, परन्तु सभा के सर्व लोग सराहना करते हैं; इसलिए आप भी सराहना करता है।

उसी प्रकार—यह मोक्ष को उत्तम मानता है।

(पृष्ठ 233)

ॐ

श्रोता उवाच— 'किसी जीव के आगमाभ्यास होनेपर भी, मोक्षमार्ग प्रगट क्यों नहीं होता ?'

भावभासना के अभाव में, सम्यग्ज्ञान नहीं

जैसे—कोई बालक, स्त्री का स्वांग बनाकर—ऐसा गाना गाए, जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जाएँ, लेकिन वह तो जैसा सीखा, वैसा कहता है; उसे कुछ भावभासित नहीं होता; इसलिए स्वयं कामासक्त नहीं होता।

उसी प्रकार—यह (मिथ्यादृष्टि) भी जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्व का अंश, अन्य तत्त्व में नहीं मिलाता, **परन्तु इसको निर्णय नहीं है; इसलिए सम्यग्ज्ञान नहीं होता।** (पृष्ठ 237)

75

सम्बोधन!

अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना, योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना, योग्य है क्योंकि संसार का मूल, मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व के समान, अन्य पाप नहीं है।

अतः जिस-तिस उपाय से, सर्व प्रकार के मिथ्यात्व का नाश करना, योग्य है। (पृष्ठ-267)

ॐ

श्रोता उवाच—'स्त्रीसेवनादि का त्याग, निचली अवस्थावाला करें या नहीं करें ?'

अविवेकी क्रिया, धर्म के उपहास का कारण

जैसे—धनादि का तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, इत्यादि विषयों में विशेष प्रवर्तते हैं। तथा वैसे कोई जामा (चोगा आदि) पहिनना, स्त्रीसेवन करना, इत्यादि कार्यों का त्याग करके, धर्मात्मापना प्रगट करते हैं और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिन्द्य पापक्रियाओं में प्रवर्तते हैं। जैसे—कोई पुरुष, एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र, अतिहीन पहिने, तो हँसी ही होती है।

उसी प्रकार—जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं है, वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं तथा कोई हीनक्रिया किया करते हैं। ऐसे ही कोई क्रिया, अति उच्च तथा कोई क्रिया, अति नीची करते हैं। वहाँ लोकनिन्द्य होकर, धर्म की हँसी कराते हैं।

सच्चे धर्म की तो यह आम्नाय है—जितने अपने रागादि दूर हुए हों, उसके अनुसार जिस पद में, जो धर्मक्रिया सम्भव हो, वह सब अंगीकार करे। यदि थोड़े रागादि मिटे हों, तो निचले पद में ही प्रवर्तन करे, परन्तु उच्चपद धारण करके, नीची क्रिया न करे। (पृष्ठ 240)

सातवाँ अधिकार, चित्र 7-2

व्यवहाराभासी की भूल

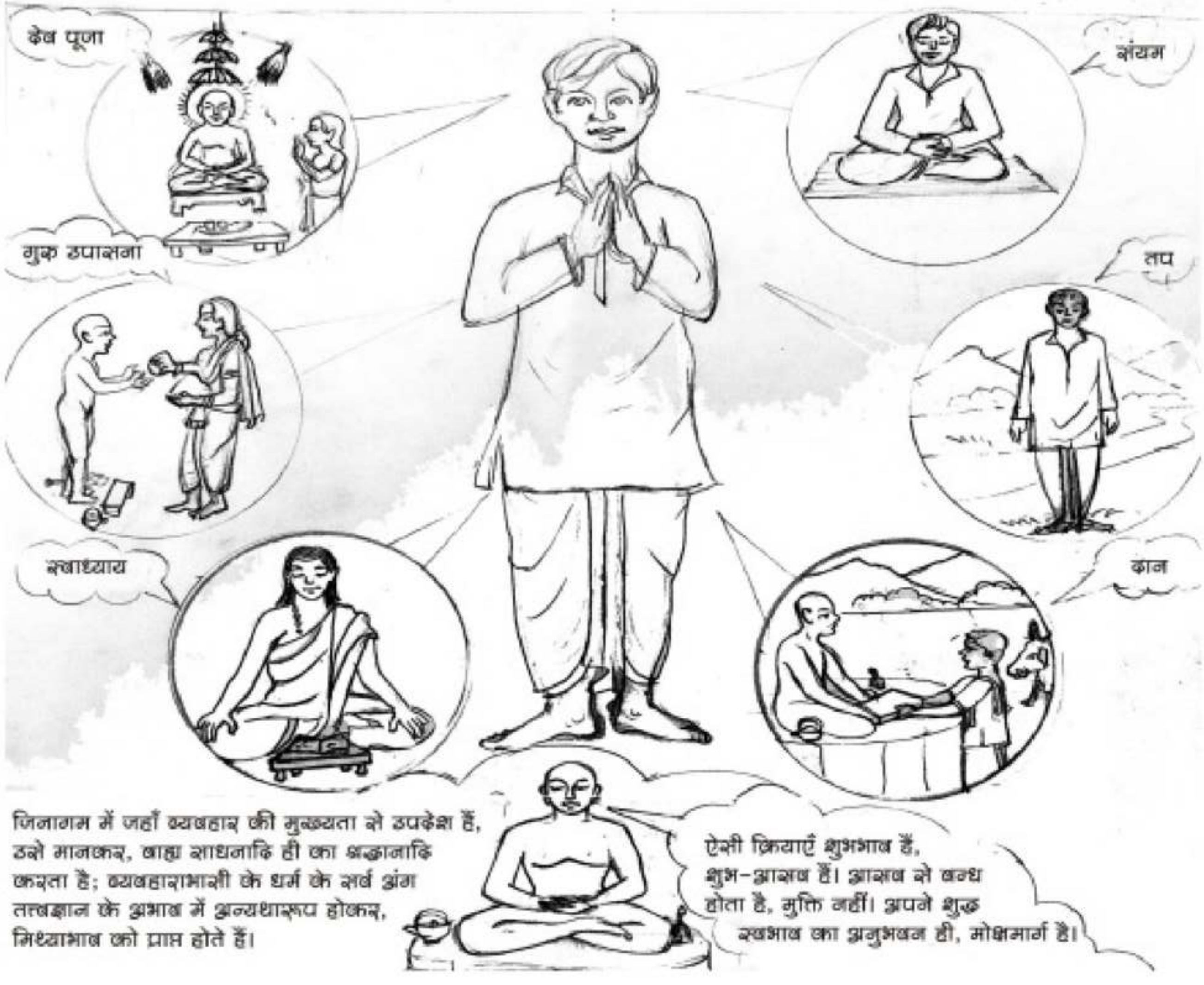

ॐ

श्रोता उवाच— *'हम जो व्रत-तप-उपवासादि करते हैं, क्या ये क्रियाएँ, धर्म नहीं हैं ? '*

वीतरागभाव ही धर्म है!

जैसे—अविवेकी व्यापारी, किसी व्यापार में लाभ के लिए, अन्य प्रकार से बहुत नुकसान कराता है। वहाँ होना तो ऐसा चाहिए कि जैसे-व्यापारी का प्रयोजन नफा है; सर्व विचारकर जैसे लाभ बहुत हो, वैसा करे।

उसी प्रकार—ज्ञानी का प्रयोजन, वीतरागभाव है; सर्व विचारकर जैसे वीतरागभाव बहुत हो, वैसा करे, क्योंकि मूलधर्म, वीतरागभाव है। इस प्रकार अविवेकी जीव, अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं, उनको तो सम्यक्चारित्र का आभास भी नहीं होता।

(पृष्ठ 241)

ॐ

श्रोता उवाच— 'जिनवाणी में 'चारित्तं खलु धम्मो' कहा है; इसलिए हम, चारित्र की प्राप्ति का ही साधन करते हैं; इसमें क्या दोष है?'

तत्त्वज्ञान ही, मोक्ष का उपाय

जैसे—कोई किसान, बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे, तो अन्न प्राप्ति कैसे हो ?—घास-फूस ही हों।

उसी प्रकार—अज्ञानी, तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे, तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो ?—देवपद आदि ही हों। (पृष्ठ 242)

(78)

श्रोता उवाच— 'वर्तमान में तो, शुभोपयोग ही होता है और यही शुभ, आगे चलकर, शुद्धोपयोग का कारण होता है?'

शुभ व शुद्ध के, कारण-कार्यपना नहीं

जैसे—रोगी को बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा, तो वह अल्प रोग तो निरोग होने का कारण है नहीं।

उसी प्रकार—द्रव्यलिंगी को शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है; शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिए **परमार्थ से इनके कारण-कार्यपना है नहीं**। (पृष्ठ 256)

(79)

ॐ

श्रोता उवाच— 'ज्ञानी भी शुभराग के कार्यों में प्रवर्तते हुए देखे जाते हैं, तब आप, हमारे शुभराग को, वृथा क्लेश करना क्यों ठहराते हैं ?'

शुभराग, चारित्र नहीं; चारित्र का दोष है

जैसे—चावल, दो प्रकार के होते हैं—एक तुषसहित और एक तुषरहित। वहाँ ऐसा जानना—जो तुष है, वह चावल का स्वरूप नहीं है; चावल में दोष है।

वहाँ कोई समझदार, तुषसहित चावल का संग्रह करता था, उसे देखकर, कोई भोला [मनुष्य], तुषों ही को चावल मानकर, संग्रह करे, तो वृथा खेद-खिन्न ही होगा।

उसी प्रकार—चारित्र दो प्रकार का कहा है—एक सराग और एक वीतराग। जो राग है, वह चारित्र का स्वरूप नहीं है; चारित्र में दोष है।

वहाँ कितने ही ज्ञानी [जीव], प्रशस्तरागसहित चारित्र धारण करते हैं, उन्हें देखकर, **कोई अज्ञानी [मनुष्य], प्रशस्तराग ही को चारित्र मानकर, संग्रह करे, तो वृथा खेद-खिन्न ही होगा।**

(पृष्ठ 244-245)

ॐ

श्रोता उवाच— 'सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के होनेवाले प्रशस्तराग में, क्या अन्तर है ?'

ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में अन्तर

जैसे—किसी को बहुत दण्ड होता था; अतः वह थोड़ा दण्ड होने का उपाय रखता है; थोड़ा दण्ड होनेपर, हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड होने को अनिष्ट ही मानता है।

उसी प्रकार—सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो यह भी पुण्यरूप थोड़ी कषाय होने का उपाय रखता है; थोड़ी कषाय होनेपर, हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता है।

जैसे—कोई, कमाई का कारण जानकर, व्यापारादि का उपाय रखता है; उपाय बन जानेपर, हर्ष मानता है।

उसी प्रकार—द्रव्यलिंगी, मोक्ष का कारण जानकर, प्रशस्तराग का उपाय रखता है; उपाय बन जानेपर, हर्ष मानता है।

इस प्रकार, प्रशस्तराग के उपाय में और हर्ष में समानता होनेपर भी, **सम्यग्दृष्टि के तो (प्रशस्तराग) दण्डसमान और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान, श्रद्धान पाया जाता है; इसलिए अभिप्राय में विशेष (अन्तर) हुआ।**

(पृष्ठ 246)

ॐ

श्रोता उवाच—'ज्ञानी के राग का अभाव कहा है लेकिन हमारे विषयसेवन त्याग को, राग का अभाव क्यों नहीं कहते ?'

अज्ञानी भय से, विषयसेवन छोड़ता है

जैसे—कोई दाहज्वरवाला, वायु होने के भय से, शीतलवस्तु सेवन का त्याग करता है परन्तु जब तक शीतलवस्तु का सेवन रुचता है, तब तक उसको दाह का अभाव नहीं कहा जाता। जैसे—अमृत के आस्वादी देव को, अन्य भोजन स्वयमेव नहीं रुचता।

उसी प्रकार—रागसहित जीव, नरकादि के भय से, विषयसेवन का त्याग करता है परन्तु जब तक विषयसेवन रुचता है, तब तक उसको राग का अभाव नहीं कहा जाता। तथा इसने राज्यादि विषयसामग्री का त्याग किया है और इष्ट भोजनादि का त्याग करता रहता है लेकिन **स्वरस (आत्मिकरस) का आस्वादन करके, विषयसेवन की अरुचि इसके नहीं हुई है।** (पृष्ठ 246-247)

ॐ

श्रोता उवाच—*'हम, सिद्ध और संसारी को, आगमानुसार ही समान कहते हैं; इसमें क्या दोष है ?'*

संसारी व सिद्ध, स्वभाव अपेक्षा समान

जैसे—राजा और रंक, मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं; रंक मनुष्य में, राजा होने की शक्ति पायी जाती है। उस शक्ति की अपेक्षा, उन्हें (रंक को) राजा मानने में दोष नहीं है।

उसी प्रकार—सिद्ध और संसारी, जीवत्वपने की अपेक्षा, समान कहे गये हैं; केवलज्ञानादि की अपेक्षा, समानता मानी जाए, वह तो है नहीं।

संसारी को निश्चय से मतिज्ञानादि ही हैं; सिद्ध को केवलज्ञान है। संसारी को मतिज्ञानादि, कर्म के निमित्त से हैं; **इसलिए स्वभाव अपेक्षा, संसारी को केवलज्ञान की शक्ति कही जाए, तो दोष नहीं है।**

(पृष्ठ 254)

ॐ

श्रोता उवाच— 'सम्यक्प्रतीति का सच्चा कारण, गुरु का उपदेश है या मिथ्यात्वकर्म का अनुदय ?'

कर्तव्य तो तत्त्वविचार करना ही है

जैसे—किसी शिष्य को हित की शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि यह जो शिक्षा दी, वह किस प्रकार है? पश्चात् विचार करनेपर, उसको इस प्रकार ही है—ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति हो जाए अथवा अन्यथा विचार हो जाए या अन्य विचार में लगकर, उस शिक्षा का निर्धार न करे, तो प्रतीति नहीं भी होती है।

उसी प्रकार—श्रीगुरु ने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया, (वह) किस प्रकार है? पश्चात् विचार करनेपर, उसको इस प्रकार ही है—ऐसी प्रतीति हो जाए अथवा अन्यथा विचार हो जाए या अन्य विचार में लगकर, उस उपदेश का निर्धार न करे, तो प्रतीति नहीं भी होती है।

इसका मूलकारण, मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाए; न मिटे तो नहीं हो—ऐसा नियम है। इसका उद्यम तो तत्त्वविचार करनामात्र ही है। (पृष्ठ 262)

ॐ

श्रोता उवाच—*'हमने परीक्षा करके, तत्त्वश्रद्धान किया था, उसका अभाव कैसे हो सकता है?'*

सम्यक्प्रतीति का अभाव, सम्भव है

जैसे—किसी पुरुष को शिक्षा दी; उसकी परीक्षा करके, उसे 'ऐसे ही है'—ऐसी प्रतीति भी आयी थी, पश्चात् किसी प्रकार से अन्यथा विचार हुआ; इसलिए उस शिक्षा में सन्देह हुआ कि 'ऐसे है या ऐसे ?' अथवा 'न जाने कैसे है ?' अथवा उस शिक्षा को झूठ जानकर, उससे विपरीतता हुई, तब उसे ऐसी [मिथ्या] प्रतीति हुई और तब उसको उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है।

उसी प्रकार—जीव को जिनदेव के तत्त्वादिरूप उपदेश हुआ; उसकी परीक्षा करके, उसको 'ऐसे ही है'—ऐसा श्रद्धान हुआ; पश्चात् जैसे पहले कहे हैं, वैसे अनेक प्रकार से, उस यथार्थ श्रद्धान का अभाव होता है।

अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीच में (सम्यक्) शिक्षा के विचार से, यथार्थ प्रतीति हुई थी परन्तु उस शिक्षा का विचार किये बहुत काल हो गया; तब उसे भूलकर, जैसी पहले अन्यथा प्रतीति थी, वैसी ही स्वयमेव हो गई, तब उस शिक्षा की प्रतीति का अभाव हो जाता है।

— ऐसे अनेक प्रकार से, उस शिक्षा की यथार्थ प्रतीति का अभाव हो सकता है।

(पृष्ठ 264-265)

ॐ

आठवाँ अधिकार
उपदेश का स्वरूप

आगम उवाच— *'लोक में तो राजादि की कथाओं में, पाप का पोषण होता है; प्रथमानुयोग में महन्तपुरुष राजादि की कथाएँ तो हैं परन्तु जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर, धर्म में लगाने का प्रयोजन प्रगट करते हैं।'*

पुराण पुरुषों की कथाएँ, जीव को धर्म की निमित्त होती हैं

जैसे—कोई सुभट है, वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा, जिसमें हो—ऐसी किन्हीं पुराण (महन्त) पुरुषों की कथा सुनने से, सुभटपने में अति उत्साहवान होता है।

उसी प्रकार—धर्मात्मा है, वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा, जिसमें हो—ऐसी किन्हीं **पुराणपुरुषों की कथा सुनने से, धर्म में अति उत्साहवान होता है।** (पृष्ठ 269)

ॐ

आगम उवाच— *'छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र रहता नहीं है; इसलिए ज्ञानी, इस करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है, उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गए पदार्थों का, जानपना इसको होता है।'*

करणानुयोग से विशेष जानकर, धर्मात्मा होता है

जैसे—कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है परन्तु उस रत्न के बहुत विशेष जाननेपर, वह रत्न का निर्मल पारखी होता है।

उसी प्रकार— यह तत्त्वों को जानता था कि 'ये जीवादि हैं' परन्तु उन तत्त्वों के बहुत विशेष जाने तो तत्त्वज्ञान निर्मल होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होनेपर, आप ही विशेष धर्मात्मा होता है। **वहाँ अन्य स्थानोंपर, उपयोग को लगाने से तो रागादि की वृद्धि होती है।**

(पृष्ठ 270)

87

जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है; जिस प्रकार रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना, सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार रागादि मिटें, वही आचरण, सम्यक्चारित्र है—ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। (पृष्ठ 213)

ॐ

आगम उवाच—'द्रव्यानुयोग में, द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके, जीवों को, धर्म में लगाते हैं।'

द्रव्यानुयोग के अभ्यास से, मोक्ष सधता है

जैसे—किसी ने कोई विद्या सीख ली, परन्तु यदि उसका अभ्यास करता रहे तो वह याद रहती है; न करे तो भूल जाता है।

उसी प्रकार—इसको तत्त्वज्ञान हुआ, परन्तु यदि उसके प्रतिपादक द्रव्यानुयोग का अभ्यास करता रहे तो वह तत्त्वज्ञान रहता है; न करे तो भूल जाता है अथवा संक्षेपरूप से तत्त्वज्ञान हुआ था, वह नाना युक्ति-हेतु-दृष्टान्तादि द्वारा स्पष्ट हो जाए, तो उसमें शिथिलता नहीं हो सकती। **तथा इस अभ्यास से रागादि घटने से, शीघ्र मोक्ष सधता है।**

(पृष्ठ 271)

(88)

अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल, मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व के समान, अन्य पाप नहीं है।

(पृष्ठ 267)

ॐ

आगम उवाच— *'प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो, उसी का पोषण करते हैं।'*

उपचार से, एक कार्य का फल, दूसरे का कहते हैं

जैसे—दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करें, वहाँ उपचार से एक पुरुष का भी किया कहा जाए, तो दोष नहीं है अथवा जिसके पितादि ने कोई कार्य किया हो, उसे एक जाति अपेक्षा, उपचार से पुत्रादि का किया कहा जाए, तो दोष नहीं है।

उसी प्रकार—बहुत शुभ व अशुभकार्यों का एक फल हुआ, उसे उपचार से, एक शुभ व अशुभकार्य का फल कहा जाए, तो दोष नहीं है अथवा अन्य शुभ व अशुभकार्य का फल यदि हुआ हो, उसे एक जाति अपेक्षा, उपचार से किसी अन्य ही शुभ व अशुभकार्य का फल कहें, तो दोष नहीं है।

किसी ने उपवास किया, उसका फल तो अल्प था परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणति की विशेषता हुई; इसलिए विशेष उच्चपद की प्राप्ति हुई; वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं।

जिस प्रकार किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी, नमस्कारमन्त्र का स्मरण किया व अन्य धर्मसाधन किया; उसके कष्ट दूर हुए, वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ है परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं तथापि उनको उन शीलादि का ही फल निरूपित करते हैं, इत्यादि इसी प्रकार जानना। (पृष्ठ 272-273)

ॐ

आगम उवाच— 'जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करें व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाते हों, [फिर भी] उन्हें मुनि कहते हैं; वहाँ मुनि तो, षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होनेपर होते हैं।'

(A) उच्चपद में, निम्न कार्य, योग्य नहीं!

जैसे—मुनि विष्णुकुमार ने, मुनियों का उपसर्ग दूर किया, वह धर्मानुराग से किया, परन्तु मुनिपद छोड़कर, यह कार्य करना योग्य नहीं था क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में सम्भव है और गृहस्थधर्म से, मुनिधर्म ऊँचा है; ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार किया, वह अयोग्य है परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से, मुनि विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है।

उसी प्रकार—प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, तो उसकी भी प्रशंसा करते हैं परन्तु **इस छल* से, औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।**

(पृष्ठ 274)

* इस विषय को समझाने के लिए पण्डितजी साहब ने प्रथमानुयोग से दो और दृष्टान्त दिए हैं।

ॐ

आगम उवाच— *'प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, तो उसकी भी प्रशंसा करते हैं।'*

(B) अविवेक से, धर्म कार्य करने का निषेध

जैसे—ग्वाले ने, मुनि को अग्नि से तपाया, उसने करुणा से ऐसा कार्य किया, परन्तु आये हुए उपसर्ग को तो दूर करना चाहिए। सहज अवस्था में जो शीतादि का परीषह होता है, उसे दूर करनेपर, रति मानने का कारण होता है; जबकि उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है; इसी से विवेकी उनके शीतादि का उपचार नहीं करते, परन्तु ग्वाला, अविवेकी था, उसने करुणा से यह कार्य किया; इसलिए उसकी प्रशंसा की है।

उसी प्रकार—छल से, औरों को धर्मपद्धति में जो विरुद्ध हो, वह कार्य करना योग्य नहीं है। (पृष्ठ 274)

(C) धर्मानुराग से, अविनययुक्त कार्य का निषेध

जैसे—वज्रकरण राजा ने, सिंहोदर राजा को नमन नहीं किया, मुद्रिका में प्रतिमा रखी, परन्तु बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि, राजादि को नमन करते हैं; इसमें दोष नहीं है; जबकि मुद्रिका में प्रतिमा रखने में अविनय होती है, यथावत् विधि से ऐसी प्रतिमा नहीं होती; इसलिए इस कार्य में दोष है परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था; धर्मानुराग से, मैं औरों को नमन नहीं करूँगा—ऐसी बुद्धि हुई; इसलिए उसकी प्रशंसा की है।

उसी प्रकार—इस छल से औरों को जो (लोकविरुद्ध हो तथा अविनययुक्त हों), ऐसे कार्य करना, योग्य नहीं है। (पृष्ठ 274)

ॐ

श्रोता उवाच—' *क्या वृक्षादि के भी, तीव्र-कषाय होती है ?'*

कषायशक्ति और कषायप्रवृत्ति में अन्तर है

जैसे—व्यन्तरादि देव, कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं तथापि उनको थोड़ी कषायशक्ति से, पीतलेश्या कही है और एकेन्द्रियादि जीव, कषायकार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनको बहुत कषायशक्ति से, कृष्णादि लेश्या कही हैं।

तथा जैसे—सर्वार्थसिद्धि के देव, कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं [तथापि] उनको बहुत कषायशक्ति से, असंयम कहा है और पंचम गुणस्थानवर्ती, व्यापार अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं [तथापि] उनको मन्दकषायशक्ति से, देशसंयम कहा है।

उसी प्रकार—किसी जीव में मन-वचन-काय की चेष्टा थोड़ी होती दिखायी देती है तथापि कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा, बहुत योग कहा है तथा किसी में, चेष्टा बहुत दिखायी देती है तथापि शक्ति की हीनता से, अल्प योग कहा है।

जैसे—केवली गमनादि क्रियारहित हुए, वहाँ भी उनके बहुत योग कहा है तथा द्वीन्द्रियादि जीव, गमनादि करते हैं तथापि उनके अल्प योग कहा है। (पृष्ठ 276)

ॐ

श्रोता उवाच—*'जिसकी व्यक्तता ही दृष्टिगोचर नहीं है, उसका वहाँ अस्तित्व कहना किस प्रकार सम्भव है?'*

सूक्ष्मशक्ति की अपेक्षा, सद्भाव

जैसे—मुनि को, अब्रह्मकार्य कुछ नहीं है तथापि नौवें गुणस्थानपर्यन्त, मैथुन संज्ञा कही है तथा अहमिन्द्रों को दुःख का कारण व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है और नारकियों को सुख का कारण व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् साता का उदय कहा है।

उसी प्रकार—कहीं जिसकी व्यक्तता कुछ भासित नहीं होती, तथापि **सूक्ष्मशक्ति के सद्भाव से, (करणानुयोग में) उसका वहाँ अस्तित्व कहा है।** (पृष्ठ 276)

93

परद्रव्य, कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है; अपने भाव बिगड़ें, तब वह भी बाह्यनिमित्त है। तथा उसके निमित्त बिना भी, भाव बिगड़ते हैं; इसलिए नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना, मिथ्याभाव है। (पृष्ठ 244)

ॐ

श्रोता उवाच— 'आगम में कहीं-कहीं पापरूप कषाय छुड़ाकर, पुण्यरूप कषाय का उपदेश दिया है। फिर हम एक कषाय को बुरा व दूसरी को भला कैसे न जानें?'

पाप से पुण्य में लाकर, पुण्य भी छुड़ाते हैं

जैसे—रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है परन्तु किसी का शीतांग से मरण होता जाने, वहाँ वैद्य, उसको ज्वर होने का उपाय करता है; ज्वर होने के पश्चात् उसके जीने की आशा होती है, तब बाद में ज्वर को भी मिटाने का उपाय करता है।

उसी प्रकार—कषाय तो सर्व ही हेय हैं परन्तु कितने ही जीवों को कषायों से पापकार्य होता जानें, वहाँ श्रीगुरु, उनको पुण्यकार्य में कारणभूत कषाय होने का उपाय करते हैं; **पश्चात् उसके सच्ची धर्मबुद्धि हुई जानते हैं, तब बाद में उस कषाय को भी मिटाने का उपाय करते हैं।**

(पृष्ठ 281)

ॐ

श्रोता उवाच—'सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को, अपने से हीनगुणयुक्त मानता है; वह उसकी भक्ति कैसे करे?'

चरणानुयोग में, बाह्य व्रत-तप की ही प्रधानता

जैसे—कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो, उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर, उसका सत्कार करता है।

उसी प्रकार—व्यवहारधर्म का साधन, द्रव्यलिंगी को बहुत है और भक्ति करना, वह भी व्यवहार ही है। इसलिए आप सम्यक्त्व-गुणसहित है परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो, उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा, गुणाधिक मानकर, उसकी भक्ति करता है।

इसी प्रकार जो जीव, बहुत उपवासादि करे, उसे तपस्वी कहते हैं। यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है, वह (वास्तव में) उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि **यहाँ चरणानुयोग में बाह्यतप ही की प्रधानता है; इसलिए उसी को तपस्वी कहते हैं।** (पृष्ठ 283-284)

ॐ

श्रोता उवाच—'शास्त्रों में, पुण्य-पाप को समान कहा है; इसलिए शुद्धोपयोग हो तो भला है; न हो तो पुण्य में लगो या पाप में लगो, क्या अन्तर है?'

अशुभ छोड़कर, शुभ में लगना योग्य

जैसे—शूद्र जाति की अपेक्षा, जाट व चांडाल को समान कहा है परन्तु चांडाल से, जाट कुछ उत्तम है—वह अस्पृश्य है; यह स्पृश्य है।

इसी प्रकार—(वास्तव में द्रव्यानुयोग के अनुसार) बन्धकारण की अपेक्षा, पुण्य-पाप, समान हैं परन्तु पाप से, पुण्य कुछ भला है—वह (पाप) तीव्रकषायरूप है; यह (पुण्य) मन्दकषायरूप है; इसलिए पुण्य छोड़कर, पाप में लगना युक्त नहीं है। (पृष्ठ 284-285)

96

सम्बोधन!

मोक्षमार्ग में पहला उपाय, 'आगमज्ञान' कहा है; आगमज्ञान बिना, धर्म का साधन, अन्य नहीं हो सकता; इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि करके, आगम का अभ्यास करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण होगा! (पृष्ठ 304)

ॐ

श्रोता उवाच—*'जिन आचार्यों ने मन्त्र-तन्त्र, वैद्यक आदि शास्त्रों की रचना की, फिर भी आप उन्हें, विकारी क्यों नहीं कहते?'*

विकार, राग की तीव्रता-मन्दता से

जैसे—मन्दरागी तो पुराणादि में शृंगारादि का निरूपण करे तो भी विकारी नहीं होता, परन्तु तीव्ररागी, वैसे शृंगारादि का निरूपण करे, तो पाप ही बाँधे।

उसी प्रकार—मन्दरागी, गणधरादि हैं, वे वैद्यकादि शास्त्रों का निरूपण करें, तो भी विकारी नहीं होते, परन्तु तीव्ररागी उनके अभ्यास में लग जाएँ, तो रागादि बढ़ाकर, पापकर्म को बाँधें। (पृष्ठ 288)

(97)

और तत्त्वनिर्णय न करने में, किसी कर्म का दोष नहीं है; तेरा ही दोष है परन्तु तू आप तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष, कर्मादि को लगाता है लेकिन जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। (पृष्ठ 311)

ॐ

श्रोता उवाच— *'मुनिराजों के द्वारा श्रृंगारादि-युद्धादि का वर्णन करनेपर भी, आप उनके उपदेश को, धर्म में लगाने का प्रयोजन, कैसे कहते हो?'*

प्रयोजन तो रागादि छुड़ाने का ही है

जैसे—कोई चैत्यालय बनवाए, वहाँ उसका प्रयोजन तो धर्मकार्य कराने का है परन्तु कोई पापी वहाँ पापकार्य करे, तो चैत्यालय बनवानेवाले का तो दोष नहीं है।

उसी प्रकार—श्रीगुरु, पुराणादि में श्रृंगारादि का वर्णन करते हैं, वहाँ उनका प्रयोजन, रागादि कराने का तो है नहीं; धर्म में लगाने का प्रयोजन है परन्तु यदि कोई पापी, धर्म न करे और रागादि ही बढ़ाए, तो श्रीगुरु का क्या दोष है? (पृष्ठ 289)

विवेकी तो, अभ्यास नहीं छोड़ते

जैसे—गधा मिश्री खाकर मर जाए, तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ते।

उसी प्रकार—विपरीतबुद्धि, अध्यात्मग्रन्थ सुनकर, स्वच्छन्द हो जाए तो विवेकी तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ते।

(पृष्ठ 292)

अध्यात्म उपदेश की उपादेयता

आठवाँ अधिकार, चित्र 8

ॐ

श्रोता उवाच— 'द्रव्यानुयोग में, व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है; सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है, इत्यादि कथन सुनकर, जीव स्वच्छन्द होकर, पुण्य छोड़कर, पाप में प्रवर्तते हैं; इसलिए इनका पढ़ना-सुनना, योग्य नहीं है?'

अध्यात्म ग्रन्थों का निषेध, योग्य नहीं

जैसे—मेघवर्षा होनेपर, बहुत से जीवों का कल्याण होता है परन्तु किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके, मेघ का तो निषेध नहीं करना।

उसी प्रकार—सभा में अध्यात्म उपदेश होनेपर, बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्तता हो तो उसकी मुख्यता करके, अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

यदि झूठे दोष की कल्पना करके, अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें, तो मोक्षमार्ग का मूलउपदेश तो वहाँ ही है; **उसका (द्रव्यानुयोग का) निषेध करने से तो, मोक्षमार्ग का निषेध होता है।**

(पृष्ठ 292)

ॐ

श्रोता उवाच— *'शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहार-पोषक उपदेश है; हम कौन सा उपदेश, पढ़ें-सुनें?'*

प्रत्येक उपदेश, प्रत्येक को कार्यकारी नहीं

जैसे—वैद्यक शास्त्रों में, अनेक औषधियाँ कही हैं, उनको जानें, परन्तु ग्रहण उन्हीं का करें, जिनसे अपना रोग दूर हो। अपने को शीत का रोग हो, तो उष्ण औषधि का ही ग्रहण करे; शीतल औषधि का ग्रहण न करे; यह औषधि औरों को कार्यकारी है - ऐसा जाने।

उसी प्रकार—जैन-शास्त्रों में अनेक उपदेश हैं, उन्हें जानें, परन्तु ग्रहण उसी का करे, जिससे अपना विकार दूर हो जाए। आपको जो विकार हो, उसका निषेध करनेवाले उपदेश को ग्रहण करे; उसके पोषक उपदेश को ग्रहण न करे; यह उपदेश औरों को कार्यकारी है - ऐसा जाने।

शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है; वहाँ आप को व्यवहार का आधिक्य हो, तो निश्चयपोषक उपदेश का ग्रहण करके, यथावत् प्रवर्तन करो और अपने को निश्चय का आधिक्य हो, तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके, यथावत् प्रवर्तन करो। **विपरीत उपदेश ग्रहण करने से, बुरा ही होता है।**

(पृष्ठ 298)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हम, निश्चयपोषक ग्रन्थ को पढ़ें या व्यवहार पोषक ग्रन्थों को पढ़ें ?'

दोषानुसार, उचित उपदेश ग्रहण करें

जैसे—किसी को अति शीतांग रोग हो, उसके लिए, अति उष्ण रसादि औषधि कही है; उस औषधि को जिसको दाह हो या तुच्छ शीत हो, वह ग्रहण करे तो दुःख ही पाता है।

तथा जैसे—कोई औषधि, गुणकारी है परन्तु आप को जब तक उस औषधि से हित हो, तब तक उसका ग्रहण करे; यदि शीत मिटनेपर भी, उष्ण औषधि का सेवन करता ही रहे, तो उल्टा रोग होता है।

उसी प्रकार—किसी को, किसी कार्य की अति मुख्यता हो, उसके लिए, उसके निषेध का अति खींचकर उपदेश दिया हो; उसे जिसको उस कार्य की मुख्यता न हो या थोड़ी मुख्यता हो, वह ग्रहण करे, तो बुरा ही होता है।

तथा **उसी प्रकार**—कोई धर्मकार्य है परन्तु आपको जब तक उस धर्मकार्य से हित हो, तब तक उसका ग्रहण करे; **यदि उच्चदशा होनेपर भी, निचलीदशासम्बन्धी धर्म के सेवन में लगा रहे, तो उल्टा विकार ही होता है।**

(पृष्ठ 299-300)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हमारा तो यह मानना है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए, ऊँचे मुनिधर्मादि से ही प्रारम्भ करना, योग्य है ?'

धर्मसेवन, भूमिकानुसार

जैसे—पाकादि औषधियाँ, पुष्टकारी हैं परन्तु ज्वरवान् उन्हें ग्रहण करे, तो महादोष उत्पन्न हो।

उसी प्रकार—ऊँचा धर्म, बहुत भला है परन्तु अपने विकारभाव दूर न हों और ऊँचे धर्म का ग्रहण करे, तो महान दोष उत्पन्न होता है। जैसे—अपना अशुभविकार भी नहीं छूटा हो और निर्विकल्पदशा को अंगीकार करे, तो उल्टा विकार बढ़ता है।

तथा **जैसे**—भोजनादि विषयों में आसक्त हो और आरम्भ त्यागादि धर्म को अंगीकार करे, तो दोष ही उत्पन्न होता है। तथा व्यापारादि करने का विकार तो छूटे नहीं और त्याग के भेषरूप धर्म अंगीकार करे, तो महान दोष उत्पन्न हो।

इस प्रकार और भी सच्चे विचार से उपदेश को यथार्थ जानकर, अंगीकार करना। (पृष्ठ 300)

ॐ

श्रोता उवाच— 'हमारी भूमिका में तो सभी उपदेश कार्यकारी हैं; इसलिए हम तो जो उपदेश मिलता है, उसे ग्रहण करके, पुण्यलाभ लेते हैं।'

कार्यकारी धर्मोपदेश, ग्रहण करना

जैसे—व्यापारी, अपनी बुद्धि के अनुसार, जिसमें समझे, उसमें थोड़ा या बहुत व्यापार करे, परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए।

उसी प्रकार—विवेकी, अपनी बुद्धि के अनुसार, जिसमें समझे, उसमें थोड़ा या बहुत उपदेश को ग्रहण करे, परन्तु **'मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है' - इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिए।**

इस प्रकार स्याद्वाददृष्टिसहित, जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से, अपना कल्याण होता है।

जैसे—रोजनामचे (बही) में तो अनेक रकम (राशियाँ), जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनको खाते में अच्छी तरह खतौनी करे, तो लेन-देन का निश्चय हो।

उसी प्रकार—शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश, जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने, तो हित-अहित का निश्चय हो।

इसलिए **स्यात्पद की सापेक्षतासहित, सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिन वचनों में रमते हैं, वे जीव, शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।**

(पृष्ठ 301, 304)

नौवाँ अधिकार

मोक्षमार्ग का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

शिव-उपाय करतैं प्रथम, कारन मंगलरूप।
विघन विनाशक सुख करन, नमौं शुद्ध शिवभूप॥

श्रोता उवाच— *'संसारदशा में भी, पुण्यकर्म का उदय होनेपर जीव, सुखी देखा जाता है; मोक्ष में ही सुखी कैसे कहते हो ?'*

आकुलता और निराकुलता में अन्तर

जैसे—किसी को विषमज्वर है; उसको असाता कभी बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है; थोड़ी असाता हो, तो वह अपने को अच्छा मानता है। लोग भी कहते हैं—अच्छा है परन्तु परमार्थ से जब तक ज्वर का सद्भाव है, तब तक अच्छा नहीं है।

उसी प्रकार—संसारी को, मोह का उदय है; उसको आकुलता कभी बहुत होती है, कभी थोड़ी होती है; थोड़ी आकुलता हो, तब वह आपको सुखी मानता है। लोग भी कहते हैं—सुखी है परन्तु परमार्थ से **जब तक मोह का सद्भाव है, तब तक सुखी नहीं है।**

(पृष्ठ 307)

ॐ

श्रोता उवाच— पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुई बाह्य सामग्री से प्रत्यक्ष में सुख-दुःख देखा जाता है, फिर भी आप बाह्य सामग्री को सुख-दुःख का कारण क्यों नहीं मानते ?

सामग्री के अनुसार, सुख-दुःख नहीं

जैसे—किसी दरिद्री को किंचित् धन की प्राप्ति हुई, वहाँ कुछ आकुलता घटने से, उसे सुखी कहते हैं और वह भी आप (स्वयं) को सुखी मानता है परन्तु किसी बहुत धनवान को किंचित् धन की हानि हुई, वहाँ कुछ आकुलता बढ़ने से, उसे दुःखी कहते हैं और वह भी आपको दुःखी मानता है।

तथा जैसे—किसी के पास थोड़ा धन है और उसे सन्तोष है तो उसको आकुलता थोड़ी है तथा किसी के पास बहुत धन है और उसे तृष्णा है तो उसको आकुलता बहुत है। किसी को, किसी ने बहुत बुरा कहा और उसे क्रोध नहीं हुआ तो उसको आकुलता नहीं होती और थोड़ी बातें कहनेपर ही क्रोध हो आए, तो उसको आकुलता बहुत होती है।

तथा जैसे—गाय को बछड़े से कुछ भी प्रयोजन नहीं है परन्तु मोह बहुत है; इसलिए उसकी रक्षा करने की बहुत आकुलता होती है तथा सुभट के शरीरादि से बहुत कार्य सधते हैं परन्तु रण में मानादि के कारण, शरीरादि से मोह घट जाये तो मरने की भी थोड़ी आकुलता होती है।

इसी प्रकार—संसारदशा में भी, आकुलता घटनेपर, सुख नाम पाता है; आकुलता बढ़नेपर, दुःख नाम पाता है; कोई बाह्य सामग्री से सुख-दुःख नहीं है।

देखो ! आकुलता घटना-बढ़ना भी बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं है; कषायभावों के घटने-बढ़ने के अनुसार है। संसार अवस्था में भी, आकुलता घटने-बढ़ने से ही, सुख-दुःख मानते हैं तथा आकुलता का घटना-बढ़ना, रागादि कषाय घटने-बढ़ने के अनुसार है।

संसार अवस्था में किंचित् कषाय घटनेपर, जब सुख मानते हैं, उसे हित जानते हैं तो जहाँ सर्वथा कषाय दूर होनेपर व कषाय के कारण दूर होनेपर, परम निराकुलता होने से, अनन्त सुख प्राप्त होता है।

वहाँ, परद्रव्यरूप, बाह्य सामग्री के अनुसार, सुख-दुःख नहीं है। (पृष्ठ 308)

मन्द उदय में भी पुरुषार्थ आवश्यक

नौवाँ अधिकार, चित्र ९

दृष्टान्त   सिद्धान्त

ॐ

श्रोता उवाच— 'किसी भी कार्य में, पाँच कारण (समवाय) मिलना जिनागम में नियमरूप से बताये हैं। फिर आप, पुरुषार्थ पर ही जोर क्यों देते हैं ?'

तीव्र कर्मोदय में, पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं

जैसे—कोई पुरुष, नदी के प्रवाह में पड़ा बह रहा है; वहाँ पानी का जोर हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं; उपदेश भी कार्यकारी नहीं। जब पानी का जोर थोड़ा हो, तब यदि पुरुषार्थ करके निकले, तो निकल आए; उसी को निकलने की शिक्षा देते हैं, और यदि न निकले तो धीरे-धीरे बहता है, फिर पानी का जोर होनेपर, बहता चला जाता है।

उसी प्रकार—जीव, संसार में भ्रमण कर रहा है; वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं; उपदेश भी कार्यकारी नहीं। जब कर्म का मन्द उदय हो, तब यदि पुरुषार्थ करके, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे, तो मोक्ष प्राप्त कर ले; उसी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, और यदि मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो **किंचित् विशुद्धता पाता है, फिर तीव्र उदय आनेपर, निगोदादि पर्याय को प्राप्त करता है।**

इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है! अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है—ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है; इसलिए श्रीगुरु, दयालु होकर, मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(पृष्ठ 313)

ॐ

श्रोता उवाच— 'असंयत सम्यग्दृष्टि को तो चारित्र नहीं है; उसको मोक्षमार्ग हुआ है या नहीं हुआ है ?'

चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्गी कहना, उपचार है

जैसे—किसी पुरुष को, किसी नगर जाने का निश्चय हुआ; इसलिए उसको व्यवहार से ऐसा भी कहते हैं—'यह उस नगर को चला है'; परमार्थ से मार्ग में गमन करनेपर ही, चलना होगा।

उसी प्रकार—असंयत सम्यग्दृष्टि को, वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान हुआ; इसलिए उसको उपचार से मोक्षमार्गी कहते हैं; **परमार्थ से वीतरागभावरूप परिणमित होनेपर ही, मोक्षमार्ग होगा।**

(पृष्ठ 314)

(108)

तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान बिना तो रागादि घटाने से भी, मोक्षमार्ग नहीं है और रागादि घटाए बिना, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है; तीनों मिलनेपर साक्षात् मोक्षमार्ग होता है।

(पृष्ठ 314)

ॐ

श्रोता उवाच— 'जिस काल में सम्यग्दृष्टि, विषय-कषायों के कार्य में प्रवर्तता है, उस काल में सात तत्त्व का विचार ही नहीं है; वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव है ?'

सम्यक्त्व तो श्रद्धान का अनुसरण करता है

जैसे—किसी रोगी मनुष्य को ऐसी प्रतीति है—'मैं मनुष्य हूँ, तिर्यंचादि नहीं हूँ; मुझे इस कारण से रोग हुआ है; अत: अब कारण मिटाकर, रोग को घटाकर, निरोग होना है।' तथा वही मनुष्य, जब अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसको ऐसा विचार नहीं होता है परन्तु श्रद्धान ऐसा ही बना रहता है।

उसी प्रकार—इस आत्मा (सम्यग्दृष्टि जीव) को ऐसी प्रतीति है—'मैं आत्मा हूँ, पुद्गल आदि नहीं हूँ; मुझे आस्रव से बन्ध हुआ है; अत: अब संवर करके—निर्जरा करके, मोक्षरूप होना है।' तथा वही आत्मा, अन्य विचारादिरूप प्रवर्तता है, तब उसके ऐसा विचार नहीं होता, परन्तु श्रद्धान ऐसा ही रहा करता है।

जैसे—वही मनुष्य, किसी कारणवश, रोग बढ़ने के कारणों में भी प्रवर्तता है, व्यापारादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है तथापि उस श्रद्धान का उसे नाश नहीं होता है।

उसी प्रकार—वही आत्मा, कर्मोदयरूप निमित्तवश, बन्ध होने के कारणों में भी प्रवर्तता है, विषयसेवनादि कार्य व क्रोधादि कार्य करता है **तथापि उस श्रद्धान का उसे नाश नहीं होता है।** (पृष्ठ 320-321)

ॐ

श्रोता उवाच— *'सम्यक्त्व प्राप्ति का अनुक्रम क्या है और अनेक जीवों को वैसा करनेपर भी, सम्यक्त्व नहीं होता देखा जाता, उसका क्या कारण है ?'*

अपना कर्तव्य तो उपाय करना ही है

जैसे—पुत्र का अर्थी, विवाहादि कारणों को मिलाता है, पश्चात् बहुत पुरुषों को तो पुत्र की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो न हो, (परन्तु) इसे तो उपाय करना।

उसी प्रकार—सम्यक्त्व का अर्थी, इन कारणों को मिलाता है, पश्चात् बहुत जीवों को तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है; किसी को न हो तो नहीं भी हो, परन्तु इसे तो अपने से बने, वह उपाय करना।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि किन कारणों के मिलने से, सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

समाधान—जिनमत में कहे जीवादि तत्त्वों का विचार करना; नाम-लक्षणादि, सीखना, क्योंकि **इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है**। पश्चात् आपा-पर का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करता रहे, क्योंकि इस अभ्यास से, भेदविज्ञान होता है। उसके बाद आप (आत्मा) में, अपनत्व मानने के लिए, **स्वरूप का विचार करता रहे, क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।**

(पृष्ठ 328-329)

ॐ

श्रोता उवाच–'अनन्तानुबन्धी, सम्यक्त्व का घात नहीं करती है तो जीव, इसका उदय होनेपर, सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर, सासादनगुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है?'

सासादन, उपशमसम्यक्त्व के ही काल में

जैसे–किसी मनुष्य को, मनुष्यपर्याय के नाश का कारण, तीव्र रोग प्रगट हुआ हो, उसे मनुष्यपर्याय का छोड़नेवाला कहते हैं, वहाँ मनुष्यपना दूर होनेपर, देवादि पर्याय होती है, वह तो रोग-अवस्था में नहीं हुई, यहाँ तो मनुष्य ही की आयु है।

उसी प्रकार–सम्यक्त्वी को, सम्यक्त्व के नाश का कारण, अनन्तानुबन्धी का उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्व का विराधक, सासादन कहा, परन्तु सम्यक्त्व का अभाव होनेपर, जो मिथ्यात्व होता है, वह तो सासादन में नहीं हुआ तथा यहाँ तो उपशमसम्यक्त्व का ही काल है–ऐसा जानना। (पृष्ठ 337-338)

ॐ

श्रोता उवाच— 'कितने ही सम्यक्त्वी जीवों को भी भय, इच्छा, ग्लानि आदि पाये जाते हैं और कितने ही मिथ्यादृष्टियों को नहीं पाये जाते; इसलिए निःशंकितादि को, सम्यक्त्व के अंग कैसे कहते हो ?'

सम्यक्त्व के किसी अंग के अभाव में भी, सम्यक्त्व सम्भवित

जैसे—मनुष्यशरीर के, हस्त-पादादि अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई मनुष्य ऐसा भी हो, जिसके हस्त-पाद आदि में कोई अंग न हो, तथापि उसके मनुष्यशरीर तो कहा जाता है परन्तु उन अंगों के बिना, वह शोभायमान व सकल कार्यकारी नहीं होता।

उसी प्रकार—सम्यक्त्व के, निःशंकित आदि अंग कहे जाते हैं; वहाँ कोई सम्यक्त्वी ऐसा भी हो, जिसके निःशंकितत्व आदि में से कोई अंग न हो, तथापि उसके सम्यक्त्व तो कहा जाता है परन्तु उन अंगों के बिना, वह निर्मल व सकल कार्यकारी नहीं होता।

जैसे—बन्दर को भी हस्त-पाद आदि अंग होते हैं परन्तु जैसे, मनुष्य को होते हैं; उसी प्रकार नहीं होते।

उसी प्रकार—मिथ्यादृष्टियों को भी व्यवहाररूप निःशंकितादि अंग होते हैं परन्तु जैसे, निश्चय की सापेक्षतासहित सम्यक्त्वी को होते हैं, वैसे नहीं होते।

(पृष्ठ 339)

ॐ

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

[आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित]

आगम उवाच– *'वहाँ प्रश्न है कि (सम्यक्त्वी जीव को) शुभाशुभरूप परिणमित होते हुए, सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?'*

सम्यक्त्वी, शुभाशुभभाव को अपना नहीं मानता

जैसे—कोई गुमाश्ता, सेठ के कार्य में प्रवर्तता है; उसको अपना भी कहता है, उसमें हर्ष-विषाद भी मानता है; वहाँ उस कार्य में प्रवर्तते हुए, अपनी और सेठ की भिन्नता का भी विचार नहीं करता, परन्तु अन्तरंग श्रद्धान ऐसा है कि 'यह, मेरा कार्य नहीं है।' ऐसे कार्य करता हुआ गुमाश्ता, साहूकार है। यदि सेठ के धन को चुराकर, अपना माने तो वह गुमाश्ता, चोर है।

उसी प्रकार—(सम्यक्त्वी भी) कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ, तद्रूप परिणमित होता है तथापि उसके अन्तरंग में ऐसा श्रद्धान है कि 'यह कार्य, मेरा नहीं है।' **यदि वह शरीराश्रित व्रत-संयम को भी अपना मानता है तो मिथ्यात्वी हो जाता है।** (पृष्ठ 342)

ॐ

श्रोता उवाच– 'सविकल्प के द्वारा ही, निर्विकल्प अनुभव होता है, फिर उसमें (निर्विकल्पदशा में) अतीन्द्रिय सुख कैसे रहता है ?'

अनुभव के काल में, कोई भी विकल्प नहीं

जैसे—रत्न को खरीदने में, अनेक विचार अर्थात् विकल्प होते हैं परन्तु जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं, तब विकल्प नहीं होते हैं; पहिनने का सुख ही होता है।

इसी प्रकार—सविकल्प के द्वारा, निर्विकल्प अनुभव होता है। जिस चैतन्यस्वरूप का सविकल्पदशा में निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकतारूप होकर, इस प्रकार प्रवर्तता है-जहाँ ध्याता -ध्येयपना दूर हो जाता है, सो ऐसी दशा का नाम, 'निर्विकल्प अनुभव' है।

इसी कारण निर्विकल्प अनुभव को, 'अतीन्द्रिय' कहते हैं।

(पृष्ठ 342)

ॐ

श्रोता उवाच—'अनुभव में, आत्मा का जानना, परोक्ष ही है; फिर भी उसे (अनुभव को) प्रत्यक्ष कैसे कहा जाता है ?'

आत्मा, स्वानुभव प्रत्यक्ष है

जैसे—कोई अन्ध पुरुष, मिश्री को आस्वादता है; वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं परन्तु जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद, प्रत्यक्ष है।

उसी प्रकार—अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है; कुछ आत्मा के प्रदेशों के आकार तो भासित होते नहीं हैं परन्तु जो स्वरूप में परिणाम मग्न होने से, स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभव, प्रत्यक्ष है। स्वानुभव में आत्मा, परोक्ष है परन्तु **जो परिणामों में स्वाद आया, वह स्वाद, प्रत्यक्ष है - ऐसा जानना।**

(पृष्ठ 346)

ॐ

परमार्थ वचनिका

[कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित]

श्रोता उवाच— *'यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में भी, अनन्तता का अन्त नहीं जाना जा सकता, तो फिर केवलज्ञान की मर्यादापर प्रश्नचिह्न उपस्थित होगा ?'*

सर्वज्ञ भी, अनन्तता को, अनन्तरूप जानते हैं

जैसे—वटवृक्ष का एक बीज, हथेली में रखकर, उसका दीर्घदृष्टि से विचार करें तो उस वट के एक बीज में, एक वट का वृक्ष है; उस वृक्ष की जैसी कुछ भाविकाल में होनहार है, वैसे विस्तारसहित विद्यमान है, उसमें वास्तविकरूप में मौजूद है, वह अनेक शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्प-फल संयुक्त है; उसके प्रत्येक फल में, अनेक बीज होंगे। इस प्रकार की अवस्था एक वट के बीजसम्बन्धी विचारें और सूक्ष्मदृष्टि देनेपर तो, उस वटवृक्ष में जो-जो बीज हैं, वे -वे अन्तर्गर्भित वटवृक्षसंयुक्त होते हैं। उसका विचार करें तो भाविनय की अपेक्षा, न वटवृक्षों की मर्यादा पायी जाती है, न बीजों की मर्यादा पायी जाती है।

उस अनन्तता के स्वरूप को, केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखते-जानते-कहते हैं; अनन्त का तो अन्त है ही नहीं, जो ज्ञान में भासित हो; इसलिए अनन्तता, अनन्तरूप ही प्रतिभासित होती है।

(पृष्ठ 352)

ॐ

श्रोता उवाच– *'क्या संशयादि सहित जीव भी, सम्यग्दृष्टि हो सकता है ?'*

सम्यग्दृष्टि, संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरहित

जैसे—किसी एक स्थान में चार पुरुष खड़े थे। उन चारों के पास आकर, किसी अन्य पुरुष ने, एक सीप का टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक-प्रत्येक से प्रश्न किया कि 'यह क्या है ? - सीप है या चाँदी है ?

प्रथम ही **संशयवान** पुरुष, बोला–'कुछ समझ नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है ? मेरी दृष्टि में इसका निर्धार नहीं होता है।' **दूसरा विमोहवान** (अनध्यवसायी) पुरुष, बोला–'मुझे यह समझ नहीं है कि तुम सीप किससे कहते हो और चाँदी किससे कहते हो ? **तीसरा विभ्रमवाला** पुरुष भी बोला–'यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है; इसे सीप कौन कहेगा ? मेरी दृष्टि में तो चाँदी सूझता है; इसलिए सर्वथा प्रकार यह चाँदी है।'

इन तीनों पुरुषों ने तो उस सीप का स्वरूप जाना नहीं; अतः तीनों मिथ्यावादी हैं।

अब, चौथा पुरुष बोला–**'अरे! यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीप का टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा है ?—सीप-सीप-सीप, निर्धाररूप से सीप ही है; इसको जो कोई अन्य वस्तु कहे, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भ्रामक अथवा अन्ध है।**

उसी प्रकार—सम्यग्दृष्टि को स्व-पर स्वरूप में, न संशय है, न विमोह है और न विभ्रम है; उसे यथार्थदृष्टि है; इसलिए **सम्यग्दृष्टि जीव, अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है।** (पृष्ठ ३५३-३५४)

2

ॐ

उपादान-निमित्त की चिट्ठी

[कविवर पण्डित बनारसीदासजी लिखित]

श्रोता उवाच— *'क्या शुभभाव से भी निर्जरा हो सकती है ?'*

शुभभाव से भी निर्जरा

जैसे—बन्ध-निर्जरा के बिना, (कोई भी संसारी) जीव, किसी अवस्था में नहीं है।

उसी प्रकार—यदि (संसार-अवस्था में) विशुद्धता से निर्जरा न होती, तो एकेन्द्रिय जीव, निगोद-अवस्था से, व्यवहारराशि में किसके बल आता; वहाँ तो ज्ञानगुण, अजानरूप है-गहलरूप है-अबुद्धरूप है; इसलिए ज्ञानगुण का तो बल नहीं है। विशुद्धरूप चारित्र के बल से जीव, व्यवहारराशि में चढ़ता है; **जीवद्रव्य में कषाय की मन्दता होती है, उससे निर्जरा होती है; उसी मन्दता के प्रमाण में, शुद्धता जानना।**

(पृष्ठ 358)

ॐ

श्रोता उवाच—'आपने कहा विशुद्धता से निर्जरा होती है परन्तु हमने सुना है कि विशुद्धता से निर्जरा नहीं; शुभबन्ध है।'

गर्भित शुद्धता भी, ग्रन्थिभेद होनेपर ही कार्यकारी

जैसे—कोई पुरुष, नदी में डुबकी मारे, फिर जब उछले, तब दैवयोग से उस पुरुष के ऊपर नौका आ जाए, तो यद्यपि वह तैराक पुरुष है तथापि किस भाँति निकले? उसका जोर चलता नहीं; वह बहुत कोशिश करता है परन्तु कुछ वश नहीं चलता।

उसी प्रकार—विशुद्धता की भी ऊर्ध्वता जाननी चाहिए; इसीलिए उसे गर्भितशुद्धता कहा है। **वह गर्भितशुद्धता, ग्रन्थिभेद होनेपर, मोक्षमार्ग को चली;** अपने स्वभाव से वर्द्धमानरूप हुई, तब पूर्ण यथाख्यात प्रगट कहलाया। **विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता, वही उसकी शुद्धता।**

(पृष्ठ 359)

पण्डितप्रवर की हितकारी प्रेरणाएँ

मुख्यरूप से [मिथ्यात्व आदि] कषाय को ही बन्ध का कारण जानना; जिन्हें बन्ध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें। (पृष्ठ 28)

भ्रमजनित दु:ख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है; अत: भ्रम दूर होने से, सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना। (पृष्ठ 52)

क्योंकि कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता है नहीं; सर्व द्रव्य, अपने -अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं; यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है। (पृष्ठ 88)

जिनमत में तो मुनि का स्वरूप ऐसा है—जहाँ बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का लगाव नहीं है; केवल अपने आत्मा का आपरूप अनुभव करते हुए, शुभाशुभभावों से उदासीन रहते हैं।' (पृष्ठ 179)

मुनिपद लेने का क्रम तो यह है—पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीनपरिणाम होते हैं, परिषहादि सहने की शक्ति होती है, फिर जब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है, तब श्रीगुरु, मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं। (पृष्ठ 179)

वहाँ कुदेवादि के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह यही हिंसादि पापों से बड़ा पाप है; इसके फल में निगोद-नरकादि पर्यायें प्राप्त करते हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा -संकट प्राप्त करते हैं और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, महा-दुर्लभ हो जाती है। (पृष्ठ 191)

जिनधर्म में यही आम्नाय है—पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; अत: इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप जानकर, पहले छुड़ाया है। (पृष्ठ 192)

देखो! तत्त्वविचार की महिमा!! तत्त्वविचाररहित—देवादि की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे; उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचारसहित—इनके बिना भी, सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। (पृष्ठ 260)

नोट्स

नोट्स

नोट्स

ग्रन्थ के प्रकाशन – सहयोगकर्ता

Late Sh. Vinod Kumar Jain & Late Smt. Veena Rani Jain 128, Mary Pearson Drive, Markham, Ontario L3S3E9 Canada Thru, New Jersey Residents	1,90,000/-
श्री अनिल जैन परिवार, बुलन्दशहर	1,20,000/–
श्री विजयकुमार जैन, 'हाथरसवाले', दादर, मुम्बई	50,000/–
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	21,000/–
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	5,000/–

श्री दिगम्बर जैन मंदिर
पार्ला, मुम्बई

मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव